6908

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष—53 किरण—1 जनवरी-मार्च 2000

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 3250522

निर्ग्रन्थ मुनि

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं वहुयं च हवई लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहियो निरायारो।।

जिस वेष में थोड़ा वहुत परिग्रह ग्रहण होता है, वह निन्दनीय वेष है। क्योंकि जिनशासन में परिग्रहरहित को ही निर्दोष साधु माना गया है।

णिग्गंथमोहमुक्का वावीस परीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।।

परिग्रह विहीन, स्वजन; परिजन एवं पर पदार्थों के मोह से रहित, वाईस परीषहों को सहने वाले, क्रोध आदि कषायों के विजेता, सभी प्रकार के पाप एवं आरंभ से रहित मुनि मोक्षमार्ग के अधिकारी हैं।

जहजायरुवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।

यथाजात बालक के समान नग्न मुद्रा के धारक मुनि अपने हाथ में तिल-तुष मात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते हैं। यदि वे थोड़ा-वहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं।

णवि सिज्झइ वत्थहरो जिणसासणे होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

जिनशासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, शेष सब मिथ्यामार्ग हैं।

अनेकान्त

वर्ष ५३	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जनवरी--मार्च
किरण १	वी.नि स २५२६ वि.स २०५६	२०००

सीख

जानत क्यों नहि रे, हे नर आतम ज्ञानी
राग दोष पुद्गल की संगति
निहचै शुद्ध निशानी।। जानत।। 1 ।।

जाय नरक पशु नर सुर गति में
ये परजाय विरानी।।
सिद्ध स्वरूप सदा अविनाशी
जानत बिरला प्रानी।। जानत।। 2।।

कियो न काहू हरै न कोई,
गुरु सिख कौन कहानी।
जनम मरन मल रहित अमल है,
कीच बिना ज्यों पानी।। जानत।। 3।।

सार पदारथ है तिहुँ जग में
नहि क्रोधी नहि मानी।।
'द्यानत' सो घट माहि विराजै,
लख हूजै शिवथानी।। जानत।। 4।।

हे जिनवाणी भारती..........!

पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन और आत्मानुभव की चर्चा मात्र में जैसा सुख है और कहां? इस चर्चा में बोलने या सुनने के सिवाय अन्य कुछ करना-धरना नहीं होता। बोलने वाला बोलता है और सुनने वाला सुनता है—लेना-देना कुछ नहीं। भला, भव्य होने का इससे सरल और सबल उपाय क्या हो सकता है? जहां आत्मा दिख जाय और जिसमें परिग्रह संचय तो हो किन्तु तप-त्याग तथा चारित्र धारण करने जैसा अन्य कोई व्यायाम न करना पड़े और स्व-समय मे आने के लिए कुन्द-कुन्द विहित मार्ग—**"चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।"** से भी छुटकारा मिला रहे अर्थात् मात्र चर्चा में ही 'स्व-समय' सिमिट बैठे। ठीक ही है **"तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता निश्चितं सहि भवेद् भव्यः भानिविर्वाणभाजनम्"** का इससे सरल और सीधा क्या उपयोग होगा?

कभी हमने स्व-समय और पर-समय के अंतर्गत आचार्य कुन्द-कुन्द के **'पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च जाण पर-समयं'** इस मूल को उद्धृत करते हुए लिखा था कि जब तक जीव आत्मगुणघातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रदेशों में स्थित है—उनसे बंधा है और उनके प्रभाव में है तब तक वह जीव पूर्णकाल पर-समय रूप है—पर-समय प्रवृत्त है। मोह क्षय के बाद ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और यही कार्यकारी है। जबकि आज मोह-माया में लिप्त होते हुए भी स्व-समय में आने के प्रयत्न हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अन्यधर्मी विचारधारा का प्रभाव है जो पर्याप्तकाल से दिगम्बर पंथियों में प्रवेश पा गया और घर में ही मुक्तिमार्ग खुल गया। वहां अनेकों को घर में ही केवलज्ञान होने की बात है और इसी की आड़ में इस पंचम काल में 25वें तीर्थंकर की कल्पना बनी। पर, समाज के सौभाग्य से वह चल न सकी।

आज हर क्षेत्र में जैसा चल रहा है वह केवल बातों मात्र का जमा-खर्च है, तथा उपलब्धि की आशा नहीं। उदाहरण के लिए यह कहना ही पर्याप्त है कि जिस जिन-धर्म के मूल में अपरिग्रह बैठा हो—जो वीतरागता में प्राप्त होता है उसे आज परिग्रह और राग के बल पर प्राप्त किया जाने का उपक्रम किया जाय या उसकी प्रभावना की जा सके? ऐसा करने से तो वह प्राणी 'स्व' से और दूर चला जाएगा।

ऐसा ही एक विवाद 'जिनवाणी' के भाषा स्वरूप को लेकर उठ खड़ा हुआ

ह। जिन-आगमों को तीर्थंकर देशना कहा जाता है और जो देशना सर्वभाषागर्भित अर्धमागधी होती है उस देशना को शौरसेनी मात्र में ही प्रसिद्ध किया जा रहा है। आगमों में उल्लेख है कि जिन भगवान की वाणी (जिनवाणी) को पूर्णश्रुत ज्ञानी गणधर ग्रथित करते हैं और अंग और पूर्वो में विभक्त वे अर्धमागधी में ही होते हैं। फलतः वे जिनवाणी संज्ञा को पाते हैं। केवल शौरसेनी मात्र में ही रचे हुए तो जिनवाणी नहीं हो सकते। विचार करें कि क्या किसी एक भाषा मात्र में रचित ग्रन्थों को ही जिन की वाणी कहा जाना युक्ति संगत है? जबकि परम्परित पूर्वाचार्यो का स्पष्ट कथन है कि जिनवाणी सर्वभाषा गर्भित होती है। तथाहि—

1. **'अर्ध च भगवद् भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्ध च सर्वभाषात्मकं'**

   —दर्शन पाहुड़ टीका।। 35 । 38 । 13।।

2. **'अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।'**

   —तिलोयपण्णत्ति।। 584 । 90 ।।

3. **'योजनान्तरदूर समीपाष्टादश भाषा सप्ताहतशतकुभाषायुतः'**

   —धवला 1 । 1 । 1 । 6 ।

4. **'ण च दिव्वज्झुणी अक्खप्पिया चेव अट्ठारस सत्तसयभासकुभासप्पिय।'**

   — धवला 9 । 4 । 44 पृ. 136

5. **'तव वागमृतश्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।**
   प्रणीत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि।।'

   —वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र।। 97 ।। अरहस्तुति:

परम्परित पूर्वाचार्यो के उक्त कथनों के आधार पर स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि जिन-वाणी की मूल-भाषा सर्वभाषागर्भित अर्धमागधी ही है।

तिलोयपण्णत्ति में अर्धमागधी भाषा को केवलज्ञान के अतिशयों में गिनाया है—

'अट्ठारस महाभाषा खुल्लयभासा सयाइसत्त तहा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयल भासाओ।।'

—तिलोयपण्णत्ति —4/907

अट्ठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएं हैं। उपर्युक्त उद्धरण केवली के केवलज्ञान सम्बन्धी ग्यारह अतिशयों में है और केवली में नियम से होते हैं। फलतः सर्वभाषागर्भित वाणी को ही 'आगम' अथवा 'जिनवाणी' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है यह भी

ध्यान देने की वात है कि अतिशयों में बदलाव नहीं होता और न ही उनमें न्यूनाधिकता ही होती है। यदि ऐसा न मान कर जिनवाणी को मात्र शौरसेनी रूप में माना जायेगा तो एक ओर जहां दिगम्बर-आगमों के कथन मिथ्या ठहरेंगे, तो दूसरी ओर इस सम्भावना को वल मिलेगा कि जब हमारे आगम शौरसेनी में है तो फिर संस्कृत, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में निबद्ध जैन आगमों को क्यों जिनवाणी के रूप में प्रतिष्ठा दी जाय? एकभाषा वह भी शौरसेनी को ही यदि जिनवाणी माना जाये तो विभिन्न जातीय भाषाओं को जानने वाले जिनवाणी को हृदयंगम कैसे करेंगे? उन विभिन्न भाषाओं के आगमों को मंदिरों में श्रद्धा और प्रतिष्ठा कैसे सम्भव होगी? यदि परम्परित आचार्यो को मात्र शौरसेनी ही इष्ट होती तो निश्चित ही आ. कुन्दकुन्द को यह न कहना पड़ता—

'जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासा विणा उ गाहेउं'

जैसे अनार्य (पुरुष) अनार्यभाषा के बिना (अर्थ को) नहीं समझ सकता अर्थात् वह अपनी भाषा में ही समझ सकता है।

अतः शौरसेनी के ब्याज से अपनी पद-प्रतिष्ठा को चमकाने में प्रवृत्त आधुनिक विद्वानों को भी शौरसेनीकरण की प्रवृत्ति से विराम लेना चाहिए।

शौरसेनी की बलात् स्थापना किये जाने के पीछे कहीं ऐसा तो नहीं कि भावी किसी तीर्थकर की दिव्य-देशना शौरसेनी में होने की सम्भावना बन गई हो, जिसकी पूर्वपीठिका में ऐसा प्रचार बनाया जा रहा हो? यतः कलिकाल में ऐसा मार्ग 25वें तीर्थकर वनाने की मुहिम के तौर पर खुल ही चुका है। सम्भव है कि निकट भविष्य में शौरसेनी में दिव्य-देशना करने वाले 26वें तीर्थकर का भी प्रादुर्भाव हो जाये।

हमें तो खेद तब होता है जब वर्तमान में मान्य उपलब्ध जिन-आगमों का प्रचार करने का बिगुल बजाने वाले स्वयं ही परम्परित पूर्वाचार्यो के कथनों को झुठलाकर अनेकों विद्वानों की ढेरों सम्मतियां एकत्र कर उन्हें शौरसेनी के पोषण में प्रकाशित कराते हैं। ऐसे में हमें निम्नलिखित गाथाओं का स्मरण हो आता है—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।
सुत्तादो तं सम्मं दरिसज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।

—जीवकाण्ड—27—28

सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यो के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का श्रद्धान कर लेता है।

गणधरादि कथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

हमारी चिरभावना रही है और है कि सभी जीव सम्यग्दृष्टि बने रहें और उन्मार्गी न हो। अतः परम्परित आचार्यों के विरोध में खड़े होकर उस विरोध को ही अपनी प्रतिष्ठा का माध्यम न बनावें। मतभेद होना तो स्वाभाविक है, पर जिनवाणी कथन को मिथ्या सिद्ध करने का दुष्प्रयास स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। हमें तो हमेशा से जिनवाणी और उसकी संपुष्टि करना इष्ट रहा है और हमारी उस पर दृढ़ श्रद्धा है। तभी तो हमारी–

'जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियां'। 'हे जिनवाणी भारती! तोहि जपूं दिनरैन' आदि भावनायें फलवती हो सकेंगी?

हम पुनः उन लोगों से विनम्रतापूर्वक कहना चाहेगे जो कतिपय विद्वानों की सम्मतियों के आधार पर केवल शौरसेनी को ही जिन-आगमों की भाषा सिद्ध करने पर तुले हैं–वे ऐसी घोषणा क्यों नहीं करते अथवा कोई सशक्त आन्दोलन क्यों नहीं छेड़ते कि -जिन कृतियों मे अर्धमागधी की पुष्टि है, वे कृतियां और उनके निर्माता दिगम्बराचार्य आगम बाह्य और अमान्य हैं, उनका बहिष्कार होना चाहिए'–आदि ! बहुत क्या कहें? आजकल जिनवाणी के प्रचार के बहाने ट्रैक्टों की भरमार है। परम्परित आचार्य की कृतियों को पढ़ने और समझने की जिन्हें फुरसत नही उनके लिए निम्न स्तरीय आगम विरुद्ध ट्रैक्ट परोस-परोस कर श्रद्धालुओं के रूप में जिनवाणी से दूर करने की मुहिम जोरों पर है। हम तथाकथित परम्परावादी लोग तो ऐसे ट्रैक्ट देखकर उस शायर को याद कर लेते हैं, जिसने कहा है–

'हम ऐसी कुल किताबें काबिले जब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़ के बेटे बाप को खब्ती समझते हैं।।'

अस्तु, परम्परित पूर्वाचार्यों और उनके द्वारा ग्रथित जिनवाणी हमारे लिए सर्वोच्च, आदरणीय और मान्य है। हम किसी भी भांति उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। भले ही कुछ लोग 'शौरसेनी पंथ' नामक कोई नया पंथ कायम करने पर ही उतारू क्यों न हों। (यह तो सभी जानते हैं कि आज का युग अर्थयुग है और जो कुछ उल्टा-पुल्टा हो रहा है वह सब धन के बल पर ही हो रहा है। आज केवल धनिक ही नहीं, अपितु कुछ त्यागी भी धन बल पर स्वच्छन्द और बहुचर्चित हैं।) श्रद्धालुओं को तो जिनवाणी भारती ही मान्य और श्रद्धास्पद है। वे सब उसकी शरण में है और रहेंगे।

प्रतिक्रमण सभी नयों से अमृत कुम्भ है

–श्री रूपचन्द्र कटारिया

जिन शासन में जीवों को दोषों से दूर कर शुद्धता प्राप्त करने का विधिपरक उपदेश है। जिनेन्द्र देव दोषों से मुक्त होकर शुद्धता को प्राप्त हैं : इससे उनके वचन प्रमाण हैं और वह उपदेश आगम संज्ञा को प्राप्त है। इस प्रकार आगम केवलियों, श्रुत केवलियों, गणधरों और आगम के ज्ञाता ज्ञानियों के द्वारा परम्परित हुआ है। उसमें विस्तारपूर्वक छह आवश्यक नित्य करने को कहे गए हैं। वे सभी आवश्यक कर्मो की निर्जरा करने वाले और मुक्ति के मार्ग हैं। इस सम्बन्ध में नियमसार की निम्न गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट रूप से कहते हैं–

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं मणंति आवासं।
कम्म विणासण जोगो णिब्बुदि मग्गोत्ति पिज्जुत्तो।। 141।।

अर्थात् जो अन्य के वश में नहीं होता है उसके कर्म को आवश्यक कहा गया है। वह कर्म का नाश करने में योग्य है। इस प्रकार उसे निर्वाण का मार्ग कहा गया हैं

इस प्रकार षट् आवश्यकों को निर्वाण मार्ग की संज्ञा प्राप्त है। उन आवश्यकों में एक प्रतिक्रमण भी है। वह प्रतिक्रमण पूर्व में किए हुए दोषों से निवृत्ति कराता है। जैसाकि प्रतिपादित है–

"जीवे प्रमादजनिता प्रचुरा प्रदोषाः परमात् प्रतिक्रमणतःप्रलयं प्रयान्ति।"

–श्रमणचर्या

–जीव में प्रमाद जनित प्रचुर दोष है : वे प्रतिक्रमण से प्रलय को प्राप्त होते हैं।

दव्वे खेते काले भावे य कदावराह सोह णयं।
णिंदण गरहणजुत्तो मणवचकायेण पंडिक्कमणं।। –श्रमणचर्या

अर्थात निंदा-गरहा पूर्वक (युक्त) प्रतिक्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

में मान, वचन, काय से किए हुए दोषों का शोधन करने वाला है।

कम्मं जं पुव्वकदं सुहासुह अणेय वित्थर विसेसं।
ततो णियतदे अप्पयं सु जो सो पडिक्कमणं।।

अर्थात पूर्व में किए हुए अनेक विस्तार वाले शुभ-अशुभ कर्मों से जो निवृत्ति कराता है वह प्रतिक्रमण है।

इस प्रकार जैनाचार में प्रतिक्रमण दोषों को दूर करने का मुख्य साधन है। इसमें पूर्वकृत कर्मो की निर्जरा होती है। निर्जरा संवर पूर्वक हो तब ही वह निर्जरा मान्य है। इस प्रकार संवर रूप समस्त व्रत, संयम, शील, तप, आराधना आदि प्रतिक्रमण की कोटि में आ जाते हैं, क्योंकि वे जीव को प्रमाद जनित दोषों से दूर रखते हैं। यह निम्नलिखित आर्षवचनों से भी स्पष्ट है–

	प्रतिक्रमण दण्डक
मोत्तूण अणायारं जो कुणदि थिर भावं। **सो पडिक्कमणं उच्चउ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।।** –नियमसार गाथा।। 85।। जो अनाचार को छोड़कर आचार में स्थिर भाव करता है वह प्रतिक्रमण है। उससे प्रतिक्रमणमय होता है।	अणाचारं पणिवज्जामि। आचारं उपसंपज्जामि।। अनाचार को पूर्ण रूप से छोड़ता हूं। आचार को प्राप्त करता हूं।
वत्ता अगतिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू। **सो पडिक्कमणं उच्चई पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।।** –नियमसार।। 88 ।। जो साधु अगुप्ति भाव को छोड़कर त्रिगुप्ति से रक्षित है वह प्रतिक्रमण है, उससे वह प्रतिक्रमणमय होता है।	अगुत्तिं परिवज्जामि। गुत्ति उपसंपज्जामि।। अगुप्ति को छोड़ता हूं और गुप्ति को प्राप्त करता हूं।
मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झा।ह धम्मसुक्कं वा। **सो पडिक्कमणं उच्चई जिणवरणिहिदिट्ठ सुत्तेसु।। 89 ।।** जो आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्मशुक्ल ध्यान को ध्याता है उसे जिनवरों से निर्देशित सूत्र में प्रतिक्रमण कहते हैं।	अट्टंठ रुद्दं झाणं वोस्सरामि। धम्मसुक्कज्णाणं अब्भुट्ठेमि।। आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ता हूं धर्म-शुक्ल ध्यान में स्थिर होता हूं।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिक्कमणं उच्चई पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।।
—नियमसार।। 86।।

जो उन्मार्ग (मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारिया) को छोड़कर जिनमार्ग (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) में स्थिर भाव को करता है वह प्रतिक्रमण है, उससे वह प्रतिक्रमण युक्त हो जाता है।

उम्मग्गं परिवज्जामि।
जिणम्मं उपसंपज्जामि।।
उन्मार्ग को छोड़ता हूं और सम्यक् रूप से जिनमार्ग को प्राप्त करता हूं।

मिच्छत्त पहुडि भावा पुव्वंजीवेण भाविया सुदुरं।
सम्मत्त पहुडि भावा अभाविया होंति जीवेण।।
—नियमसार।। 90।।

मिथ्यात्व प्रभृति भावों को जीव ने अनन्तकाल से भाया है और सम्यक्त्व प्रभृति भाव जीव से अभावित हैं।

अभाषियं भावेमि।
भावियं ण भावेमि।
अभावित को भाता हूं और भावित को नहीं भाता हूं।

मिच्छा दंसण णाणं चरित्तं चइउण णिरवसेसेण।
सम्मत्त णाण चरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं।।
—नियमसार।। 91।।

मिथ्यादर्शन, ज्ञान चरित्र को सम्पूर्ण रूप से छोड़ कर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र को भाता है वह प्रतिक्रमण है।

मिच्छा दंसण मिच्छाणाण
मिच्छा चरित्तं परिणरोमि।
सम्मणाण दंसण सम्म चारित्तंव
रोचेमितजं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
मिथ्या, दर्शन, ज्ञान, चारित्र को पूर्णरूप से छोड़ता हूं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो जिनवरों से प्रज्ञप्त है में रुचि रखता हूं।

उपर्युक्त उल्लेखों के अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, गुप्ति, धर्म-शुक्ल ध्यान, आत्मध्यान, आराधना आदि को प्रतिक्रमण कहा है। इसके अतिरिक्त अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 5, पृष्ठ 262 पर निम्न गाथा उपलब्ध है जिसमें आठ प्रकार का प्रतिक्रमण प्ररूपित है—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरिहा सोही पडिकमणं अटहा होइ।।

परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार का प्रारम्भ करते समय ही आचार्य बंधभाव से विरक्त करने वाले और आत्मभाव को दृढ़ करने वाले प्रतिक्रमण को करने की प्रतिज्ञा करते हैं और उस प्रतिक्रमण के पात्र कौन हैं? इसका भी प्रतिपादन करते हैं–

एसो पडिक्कमण विहि पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वे हि।
संजम तव ट्ठिठयाणं णिग्गांथाणं महीसिणं।।

इस प्रकार यह प्रतिक्रमण विधि संयम-तप में स्थित निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए समस्त जिनवरों के द्वारा प्ररूपित हैं।

इस प्रकार जिनवरों का उपदेश के दोषों से दूर करने वाला होने से मूलतः प्रतिक्रमण मय है। इसलिए अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर के धर्म को "सपडिकम्मो धम्मो" –प्रतिक्रमण सहित धर्म कहा है। इससे रहित साधु महावीर *का अनुयायी नहीं हो सकता। बारस अणुवेक्खा में कहा गया है–*

रतिदियं पडिकमणं पच्चक्खाणं समादि सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती।।

इसलिए जिनवाणी में उपदेश है कि प्रतिक्रमण इत्यादि अपनी शक्ति के अनुसार रात-दिन निरन्तर करते रहना चाहिये।

इस समय अंतिम तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म (आगम) का शासन है। इस जिन-शासन में जितने भी मूलग्रंथ हैं उनमें दोषों को दूर कर शुद्धता को प्राप्त कराने वाले उपायों को अमृत-कुम्भ माना है। अतः प्रतिक्रमण भी धर्म का मूल व अमृतकुम्भ है। इसके विपरीत समय पाहुड़ की निम्न दो गाथाएं भी विचारणीय हैं–

पडिकमणं पडिसरण पडिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरूहा सोही अट्ठविहो होहि विसकुंभो।।
अपडिकरण अपडिसरण अपरिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती या अणिंदा अगरूहा सोही अमय कुंभो।।

अर्थात् प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार का विषकुम्भ है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, असाधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अर्गहा और अशुद्धि यह आठ प्रकार का अमृत कुम्भ है।

इन गाथा द्वय में प्रतिक्रमण आदि को विषकुम्भ और अप्रतिक्रमण आदि

को अमृतकुम्भ कहा गया है जबकि सभी जिनेन्द्रों ने पाप को विषकुम्भ और पापों से छुड़ाने वाले को अमृतकुम्भ कहा है। प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण सम्बन्धी इन गाथाओं के टीकाकारों ने उनका अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रतिक्रमण को द्रव्य प्रतिक्रमण और स्वर्ग का दाता मानकर विषकुम्भ तथा उससे विलक्षण अप्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ प्रतिपादित किया है, जबकि निदंण-गर्हण युक्त जो प्रतिक्रमण है उसे भाव-प्रतिक्रमण कहा गया है। यह तथ्य मूलाचार की निम्न गाथा से स्पष्ट है :–

आलोचणनिंदण गरहणादि अब्भुट्ठिओ अकरणाय।
तं भाव पडिक्कमण सेसं पुण दव्व दो भणियं।। "625"

अर्थात् आत्मा को स्थिर करने वाले होने से आलोचना, निदंण, गरहण आदि भाव प्रतिक्रमण हैं और अन्य समस्त द्रव्य प्रतिक्रमण हैं।

इस प्रकार समय पाहुड़ की उपर्युक्त गाथा द्वय की टीका भी विचारणीय है। कहीं-कहीं अनुवर्ती टीकाकारों ने प्रतिक्रमण को कर्तृत्व बुद्धि होने से निषेध किया है जबकि उपर्युक्त भाव प्रतिक्रमण कर्मों का कर्ता नहीं है और संवर व निर्जरा रूप होने से कर्म के कर्तृत्व का अभाव है, जैसाकि निम्न गाथा से स्पष्ट है–

जाव ण पच्चक्खाणं अपडिकमण च दव्व भावाणं।
कुव्वदि आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो।।

अर्थात् जब तक जीव द्रव्य-भावरूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह कर्त्ता होता है–ऐसा जानना चाहिये?

अतः आगम के आलोक में निंदण-गरहण युक्त प्रतिक्रमण को कर्तृत्व भाव नहीं कह सकते। समय पाहुड़ में स्थान-स्थान पर कर्म के कर्ता को अज्ञानी कहा गया है और ज्ञान के कर्ता को ज्ञानी कहा गया है। अतः यह प्रतिक्रमण विधि भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा ज्ञानियों के लिए कही गई है, अतः यह ज्ञान भाव है। इस प्रकार यह विषकुम्भ नहीं होना चाहिये।

प्रतिक्रमण दोषों की निवृत्ति के लिए प्रतिपादित है तथा व्रत, समिति, ध्यान (धर्म, शुक्ल ध्यान) आदि समस्त दोषों का निवारण करने से प्रतिक्रमण के विविधरूप हैं। उन व्रत, नियम आदि में जो दोष लगते हैं उन्हें भी प्रतिक्रमण ही दूर करता है (अप्पडिकंतं पडिक्कमामि) अतः सम्पूर्ण रूप से दोषों का निराकरण करने वाला यह प्रतिक्रमण कैसे विषकुम्भ हो सकता है? यह विचारणीय है। जिसका मूल स्वभाव ही दोषों का निराकरण करना है वह प्रतिक्रमण कैसे विषकुम्भ हो सकता है?

प्रतिक्रमण में कर्मों के अकर्तृत्व का भाव है और वह अमृतकुम्भ है। इसके विपरीत अप्रतिक्रमण कर्मों का कर्ता है और वह विषकुम्भ है जबकि गाथा में इसके विपरीत कहा है। सम्यग्दृष्टि के प्रतिक्रमण निर्जरा रूप है। कदाचित् किसी शुभोपयोगी श्रमण के करुणा भाव से पुण्यबंध हो जाय तो वह तीर्थंकर प्रकृति इत्यादि रूप होता है जो निर्वाण का हेतु है और परम्परा से अमृतमयी मोक्ष को प्राप्त कराता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण को साक्षात् व परम्परा से अमृतकुम्भ ही जानना चाहिये। यह प्रतिक्रमण इतना उपयोगी और महत्वपूर्ण है कि यदि कोई मिथ्यादृष्टि भी इसके धारण से अपने पापों से निवृत्ति पाकर व्रत-समिति का आचरण करता हुआ मन्द कषायी होता है और कदाचित् वह अपने पुण्य के प्रभाव से समवसरण में जाकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है और अन्ततः मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है।

इसी दृष्टि को रखते हुए समय पाहुड़ मोक्षधिकार में "शेयादि अवराहे" आदि गाथाओं में अव्रतभाव को बंधन का मूलक बतलाते हुए उससे वह वस होता है और इसके विपरीत संवर भाव विशुद्धि मूलक होने से वह अवस होता है अतः अवस भाव संवर विशुद्धि रूप है और उसी से कर्मों की निर्जरा होकर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

दैवयोग से समय पाहुड़ के मूलपाठ का अध्ययन करते समय हमें इन गाथाओं के स्थान पर श्रवणवेलगोल स्थित ताड़पत्रीय प्रति में निम्न चार गाथाएं प्राप्त हुई हैं—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्तीय य।
णिंदा गरूहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु।।
अघडिकमणं अघडिसरणं अघरिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ति य अणिंदा गरूहा सोही अट्ठविहो विसकुंभो।।
पडिकमणं पडिसरण पडिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविणा णि-सविसकुंभो।।
अघडिकमणं अघडिसरण अघडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ति य अणिंदा अरुहा सोही अवदकुम्भो।।

प्रथम दो गाथाओं को समय पाहुड़ के दोनों टीकाकारों ने उद्धृत किया है। उनको ये गाथाएं परम्परा से प्राप्त थी तथा इसके बाद की दोनों गाथाएं पूर्व गाथाओं के समर्थन में हैं। इस प्रकार ये प्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ प्रतिपादित

करने वाली गाथाएं परम्परित और पूर्वापर दोष रहित है। अतः उन गाथाओं के स्थान पर इन गाथाओं का ही पाठ करना आगम सम्मत है, जैसाकि भगवती आराधना की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है—

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयणं तु सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरु णियोगा।।
सुत्ता दो तं सम्मं दरिसिज्जं तं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवदि मिच्छादिट्ठि जीवो तदो पहुदि।। "32-33"

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है और अज्ञान भाव से नहीं जानता हुआ। असद्भाव का भी गुरु के नियोग से श्रद्धान करता है जब वह सूत्र से अच्छी तरह से दरशाए हुए उस सद्भाव का श्रद्धान नहीं करता है तब वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

टीकाकारों ने प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण से विलक्षण अप्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ कहा है जबकि बन्ध अधिकार की अंतिम गाथा में राग, दोष, कषायरहित जीव को अप्रतिक्रमण का अकारगो (अकर्त्ता) कहा है। अतः राग-दोष-कषाय रहित जीव प्रतिक्रमणमय होने से अमृतकुम्भ है और प्रतिक्रमण का कर्त्ता है।

इसी अधिकार में चैतन्यभाव को प्राप्त करने का साधन रूप प्रज्ञा का वर्णन आया है, अतः वह प्रज्ञा ही अप्रतिक्रमण व प्रतिक्रमण से विलक्षण अभेद रत्नत्रय रूप होना चाहिये। वह प्रज्ञा ही जीव को केवलज्ञान तक की यात्रा कराती है—ऐसा उन गाथाओं से प्रतिभासित होता है। श्रमणाचार में समस्त जिनवरों को नमस्कार किया है। उसमें प्रज्ञा श्रमण को भी नमस्कार किया है जबकि अप्रतिक्रमण श्रमण को नहीं किया है। गाथा में प्रतिक्रमण के साथ शुद्धि पद होने से वह अमय कुम्भ है और अप्रतिक्रमण के साथ अशुद्धि पद होने से विषकुम्भ होना चाहिये।

श्रुतकेवली ने मोक्षाधिकार में बन्ध और आत्मा के स्वभाव को जानकर प्रज्ञा द्वारा छेदने की प्रेरणा दी है और श्रमणाचार में सर्वश्रमणों को नमस्कार किया है। उसमें प्रज्ञा श्रमणों को भी नमस्कार किया है। इसके विपरीत प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण से विलक्षण अप्रतिक्रमण श्रमण को कहीं पर भी नमस्कार नहीं किया है। अतः टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित प्रतिक्रमण/प्रतिक्रमण से विलक्षण अप्रतिक्रमण कौन-सा है—यह चिन्तनीय है।

37ए/2, राजपुर रोड, दिल्ली-54

विचारणीय

जैनों के सैद्धान्तिक अवधारणाओं में क्रम परिवर्तन-2

—नंदलाल जैन

कार्ल सागन ने बताया है कि पुरातन धार्मिक मान्यताओं या विश्वासों के मूल में बौद्धिक छानबीन के प्रतिरोध की धारणा पाई जाती है। यही वृत्ति वर्तमान धार्मिक अनास्था का कारण है। इसी कारण, गैलीलियो, स्पिनोजा, व्हाइट आदि जिन पश्चिमी अन्वेषकों ने ऐसी खोजे की जो प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के विरोध में थी, उन्हें दण्डित किया गया। यह भाग्य की बात है कि विश्व के पूर्वी भाग में ऐसा नहीं हुआ। परन्तु यह माना जाता है कि अनेक प्राचीन धार्मिक मान्यतायें प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक (जैसे राजा के देवी अधिकार आदि) एवं आर्थिक (गरीब और धनिक का अस्तित्व आदि) स्थिति को यथास्थिति बनाये रखने में सहायक रही हैं। जो धर्म संस्थायें इनमें होने वाले परिवर्तनों के प्रति संवेदनशील नहीं होती, वे जीवन्त और गतिशील नहीं रह पाती। जो धर्मसंस्थायें बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण पर जितनी ही खरी उतरती हैं, वे उतनी ही दीर्घजीवी होती है। उनमें उतना ही सत्यांश होता है।

आधुनिक तर्कसंगत विश्लेषण एवं अनुगमन के युग में सागन का मत जैन मान्यताओं पर पर्याप्त मात्रा में लागू होता हैं यही कारण है कि उसकी मान्यताओं में समय-समय पर परिवर्धन, विस्तारण एवं संक्षेपण हुए हैं और वह युगानुकूल बना रहा है। इन प्रक्रियाओं के कुछ उदाहरण 'साइंटिफिक कन्टेन्ट्स इन जैन कैनन्स' (पार्श्वनाथ विद्यापीठ, काशी 1996) में विवरणित है। तुलसी प्रज्ञा 23-4 में इससे सम्बन्धित आठ प्रकरण दिये गये हैं। प्रस्तुत अध्ययन इस शृंखला का दूसरा खण्ड है। इसमें 11 प्रकरण और दिये जा रहे हैं। ये मुख्यतः धार्मिक आचार एवं विचारों से संबंधित हैं। ये इस तथ्य के संकेत हैं कि विविध जैन अवधारणायें समय-समय पर परिवर्धित और विकसित होती रही हैं और अपनी वैज्ञानिकता का उद्घोष करती रही है।

1. दश धर्मों का क्रम एवं नाम परिवर्तन

सामान्य गृहस्थ एवं साधुओं के कार्मिक संवर एवं निर्जरा हेतु जैन तंत्र में दश धर्मो का पर्याप्त महत्व है। लेकिन यहां भी स्थानांग और तत्वार्थसूत्र में इनके नाम और क्रमों में अंतर है जैसा नीचे की सारंणी से स्पष्ट है –

	स्थानांग 10.16 एवं 5.34-35	तत्वार्थ सूत्र 9.6
1.	क्षान्ति	क्षमा
2.	मुक्ति (निर्लोभता)	मार्दव
3.	आर्जव	आर्जव
4.	मार्दव	शौच
5.	लाघव	सत्य
6.	सत्य	संयम
7.	संयम	तप
8.	तप	त्याग
9.	त्याग	आकिंचन्य
10.	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य

इस क्रम से स्पष्ट है कि स्थानांग का क्रम कषायों के क्रम के आधार पर किंचित् विपर्यास में है। साथ ही यहां अकिंचन्य के बदले 'लाघव' का नाम दिया गया है। शौच के लिये मुक्ति एवं क्षमा के लिये 'क्षांति' नाम दिया गया है। इसके विपर्यास में, तत्वार्थ-सूत्र का क्रम अधिक संगत लगता है। कुंदकुंद ने भी बारस-अणुवेक्खा गाथा 70 में शौच के पूर्व सत्य रखकर एक नया आयाम खोल दिया है। वस्तुतः यह उचित प्रतीत नहीं होता। साथ ही, यदि इन दश धर्मो को अहिंसादि पांच व्रतों का विस्तार माना जाय तो भी कुंदकुंद संगत नहीं लगते क्योंकि

1. अहिंसा के रूप में (1-4) क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं शौच आते हैं।
2. सत्य के रूप में (5) सत्य धर्म आता है।
3. अचौर्य के रूप में (6,7,8) संयम, तप और त्याग आते हैं।
4. ब्रह्मचर्य के रूप में (9) ब्रह्मचर्य आता है।
5. अपरिग्रह के रूप में (10) आकिंचन्य या लाघव आता है।

इन धर्मो के क्रम में अपरिग्रह (आकिंचन्य) को ब्रह्मचर्य के पूर्व का स्थान भी विवेचनीय है। अन्यथा उन्हें पांच व्रतों का विस्तार कहना समुचित न होगा। स्थानांग के लाघव की स्थिति तो और भी शोचनीय है। यदि नामों के अंतर की

उपेक्षा भी कर दी जाए, तो भी क्रम परिवर्तन का सैद्धांतिक आधार विचारणीय है।

2. दश वैयावृत्यों का क्रम परिवर्तन

भौतिक और आध्यात्मिक विकास में तप का महत्वपूर्ण स्थान हैं बाह्य तपों की तुलना में अंतरंग तप अधिक निर्जराकर होते हैं। छह अंतरंग तपों में वैयावृत्य तीसरा तप है। स्थानांग 10.17 एवं 5.44-45 में तथा तत्वार्थसूत्र 9-21.24 में वैयावृत्य के दस प्रकार बतलाये गये हैं जैसाकि नीचे की सारणी से स्पष्ट है :

	स्थानांग 10.17		तत्वार्थ सूत्र 9.24
1.	आचार्य	1.	आचार्य
2.	उपाध्याय	2.	उपाध्याय
3.	स्थविर	3.	–
4.	तपस्वी	4.	तपस्वी
5.	ग्लान	5.	–
6.	शैक्ष	6.	शैक्ष
7.	कुल	7.	ग्लान
8.	गण	8.	गण
9.	संघ	9.	संघ
10.	साधर्मिक	10.	साधु
11.	–	11.	मनोज्ञ

इससे पता चलता है कि जहां तत्वार्थ सूत्र में 'स्थविर' और 'साधर्मिक' का नाम सही है, वहीं स्थानांग में मनोज्ञ और साधु की वैयावृत्य का नाम नहीं है। यदि साधर्मिक को साधु माना जाय, तो भी 'मनोज्ञ' का अभाव तो है ही। यही नहीं, यहां भी क्रम परिवर्तन दृष्टव्य है। संभवतः 'गण' और 'कुल' का विपर्यय तो परिभाषा की भिन्नता के कारण हो सकता है। ग्लान का क्रम भी स्थानांग में उचित लगता है। इन वैयावृत्यों के क्रम को ऐतिहासिक विकास क्रम को ऐतिहासिक विकास क्रम में भी देखा जा सकता है। फलतः वैयावृत्य के नाम और क्रम भी तर्क-संगति चाहते हैं।

3. स्वाध्याय के भेद

जैन आध्यात्मिक शास्त्र में अंतरंग तप के रूप में स्वाध्याय का अत्यंत

महत्व है क्योंकि उत्तराध्ययन के अनुसार यह ज्ञानावरण कर्म का क्षय/क्षयोपशम करता है। स्थानांग 5.220 और उत्तराध्ययन 29.19 में इसके वाचना, पृच्छना, परिवर्तना (आम्नाय), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा के रूप में पांच भेद बताये गये हैं। इसके विपर्यास में, उमास्वामी ने 9.25 में कुछ पारिभाषिक शब्दों के अंतर के साथ अर्थसाम्य रहते हुए भी पांच भेद तो बताये हैं पर उन्होंने तीसरे और चौथे भेद का नाम परिवर्तन (पर अर्थसमान) ही नहीं किया अपितु उनका क्रम-परिवर्तन भी किया है। उन्होंने 'परिवर्तना' (स्मरणार्थ पाठ-पुनरावृत्ति) के लिये आम्नाय पद का प्रयोग किया है और उसे स्थानांग 5.220 के विपर्यास में तीसरे के बदले चौथे क्रम पर रखा है। और अनुप्रेक्षा को तीसरे क्रम पर रखा है। यहां प्रश्न यह है कि पाठ के अच्छी तरह स्मरण होने पर (आम्नाय) उसके अर्थ पर चिंतन-मनन (अनुप्रेक्षा) किया जाना चाहिये या चिंतन के बाद स्मरणार्थ पुनरावृत्ति करनी चाहिये। आचार्य महाप्रज्ञ ने बताया है कि तार्किक दृष्टि से अच्छी तरह स्मृत पाठ पर ही अच्छा चिंतन हो सकता है। यदि अनुप्रेक्षा का अर्थ वर्णों के उच्चारण के बिना मानसिक अभ्यास लिया जाय, तो भी 'परिवर्तना' या 'आम्नाय' को तीसरे क्रम पर रखा जाना चाहिये। वचन-प्रेरित पुनरावृत्ति मानसिक पुनरावृत्ति या अभ्यास का पूर्ववर्ती चरण मानी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वामी ने यहां भी मन-वचन-काय (धर्मोपदेश) की परंपरा का अनुसरण किया है। यह स्वाध्याय के समान प्रकरण में उपयुक्त नहीं लगता। फलतः यह व्यत्यय भी विचारणीय है। स्वाध्याय के अंतिम भेद का नाम भी दोनों प्रकरणों में भिन्न है, पर अर्थसाम्य के कारण उसे क्रम में ही माना जा सकता है।

4. दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियां

स्थानांग 9.14 और प्रज्ञापना पद 23 में दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का क्रम निम्न है—निद्रा पंचक और दर्शन-चतुष्क। धवला 6.31 में भी लगभग यही क्रम है। इसके विपर्यास में तत्वार्थ सूत्र 8.7 और सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में यह क्रम दर्शन चतुष्क एवं निद्रा पंचक के रूप में है। इस क्रम के व्यत्यय का कारण भी अन्वेषणीय है। दर्शन के बाद निद्रा या निद्रा के बाद दर्शन? वस्तुतः यदि दर्शन का सामान्य अर्थ लिया जाय, तो जहां निद्रादि में प्रायः पूर्ण दर्शन का प्रत्यक्ष अभाव होता है या अपूर्ण दर्शन होता है, इसे सामान्य चक्षुदर्शनावरण के भेद के रूप में लेना चाहिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधि-दर्शन निद्रा को भी प्रेरित करता है और केंद्रित दर्शन ध्यान को भी

प्रेरित करता है। इसलिये दर्शन के बाद निद्रापंचक का क्रम होना चाहिये। यह क्रम-परिवर्तन कब और कैसे हुआ, इसका स्रोत एवं व्याख्यान अन्वेषणीय है।

5. नोकषाय–चारित्र मोहनीय की नौ उत्तर प्रकृतियां

दर्शनावरणीय कर्म के समान प्रज्ञापना पद 24 स्थानांग 9.69 एवं धवला 6.45 में नोकषाय के हास्यादि नौ भेदों का क्रम तत्वार्थ सूत्र 8.9 के विपर्यास में है। जहां पूर्व ग्रंथों में वेदत्रिक पहले हैं, वहीं तत्वार्थ सूत्र में यह अंत में है। इसी प्रकार, भय और शोक के क्रम में भी अंतर है। वस्तुतः, नोकषायें मनोभावों की अभिव्यक्ति के रूप है। मनोभावों का परिणाम सुख-दुख के रूप में अभिव्यक्त होता है। श्रमण-संस्कृति उदासीन वृत्ति का तथा मनोभावहीनता को लक्ष्य मानती हैं फलतः जब तक वेदत्रिक से संबंधित मनोभाव न होंगे तब तक उनको अनुवर्तित करने वाली हास्यादि नोकषायें कैसे होंगी? आखिर विशिष्ट कोटि के जीवन के अस्तित्व पर ही प्रवृत्तियां या अनुभूतियां निर्भर करती है। फलतः नोकषायों के व्यत्यय का कारण और उसकी ऐतिहासिकता विचारणीय है।

6. सूक्ष्म के भेदों का क्रम

सामान्यतः सूक्ष्म पदार्थ वे कहलाते हैं जो अचाक्षुष हों, अव्याघाती हों, विप्रकृष्ट हों या जो छद्मस्थ-गम्य न हो। इनका अनुमान उनके कार्य से होता हो। सामान्यतः दिगंबर ग्रंथों में सूक्ष्म पदार्थों को परिगणित नहीं किया गया है। द्रव्य संग्रह में अवश्य चित्तवृत्तियों एवं परमाणु, कर्म आदि को सूक्ष्म बताया गया है। भगवती 8.2 में दस ज्ञेय पदार्थों को केवलि-ज्ञेय कहा गया है जिनमें शब्द, वायु, गंध, परमाणु, पुद्गल, तीन अमूर्त्यद्रव्य, मुक्त जीव आदि समाहित हैं। पर दशवैकालिक 8.15 और स्थानांग 8.35 में आठ प्रकार के जीवों को सूक्ष्म कहा गया है। इनमें एक नाम छोड़कर बाकी नाम एकसमान हैं पर उनका क्रम भिन्न है जो निम्न प्रकार है :

	दशवैकालिक 8.15	स्थानांग 8.35	स्थानांग 10.24
01.	स्नेह (जल के प्रकार)	प्राण	प्राण
02.	पुष्प	पनक	पनक
03.	प्राण (कुन्थु समान जीव)	वीज	वीज
04.	उत्तिंग (कीटिकानगर)	हरित	हरित
05.	काई (पनक, 5 वर्ण)	पुष्प	पुष्प

06.	वीज	अंड	अंड
07.	हरित (अंकुरादि)	लयन	लयन
08.	अंड	स्नेह	स्नेह
09.	—	—	गणित
10.	—	—	भंग

वृत्तिकारों में उत्तिंग एवं लयन को लगभग समानार्थी ही माना हैं यहां दशवैकालिक का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाता है जबकि स्थानांग का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। यहीं नहीं स्थानांग 10.24 में गणित एवं भंग-सूक्ष्म के क्रम जोड़कर उसकी विविधा भी बढ़ा दी हैं दशवैकालिक स्थानांग का पूर्ववर्ती माना जाता हैं उसका सूक्ष्म-स्थूल-मुखी क्रम स्थानांग काल में कैसे परिवर्तित हो गया—यह विचारणीय है। पर सामान्य जन के लिये स्थानांग का क्रम अधिक वैज्ञानिक भी लगता है। इसमें अजीव सूक्ष्म कैसे छूट गये, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है। गाथा-छंद-बद्धता को निश्चित रूप से इसका कारण नहीं माना जा सकता। फिर स्थानांग में ही गणित—सूक्ष्म एवं भंग सूक्ष्म का समाहरण भी एक प्रश्न ही है। संभवतः गणित सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों के रूप में ही समाहित हुआ हो। इस प्रकार इस प्रकरण में क्रम-व्यत्यय, सूक्ष्म भेदाधिक्य एवं वैज्ञानिकता—ये सभी तथ्य तर्क-संगतता चाहते हैं।

7. अनुयोगों का क्रम

साामन्यतः यह माना जाता है कि जैन परम्परा में विविध विषयों के पृथक् रूप से वर्णन करने की अनुयोग परंपरा प्रायः पहली सदी (आचार्य आर्यरक्षित के समय) से प्रारंभ हुई है। पर दोनों ही परंपराओं में इनका क्रम भिन्न-भिन्न है। दिगम्बर परम्परा में यह क्रम प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के रूप में है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में यह क्रम चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के रूप में है। यहां दिगम्बरों का प्रथमानुयोग धर्मकथानुयोग हो गया है और उसका क्रम द्वितीय हो गया है। करणानुयोग गणितानुयोग हो गया है और 'करण' का अर्थ द्वितीयक चारित्र हो गया है। चरणानुयोग प्रथम स्थान पर आया है जिसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक चारित्र समाहित हुआ है। द्रव्यानुयोग (अध्यात्म और तत्व विद्या) का स्थान दोनों में अंतिम है। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बरों का क्रम अधिक तर्क-संगत है क्योंकि उदाहरण (प्रथमानुयोग—जीवन चरितों) से चारित्र की प्रवृत्ति

को प्रोत्साहन मिलता है। चारित्र की सम्यक्ता से तत्व विद्या एवं प्रामाणिकता के प्रति रुचि बढ़ती है। यद्यपि अनुयोगों का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर दोनों परंपराओं में है पर नाम क्रम की भिन्नता का स्रोत और समय अन्वेषणीय है।

8. पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में क्रम भेद

पुद्गल को स्पर्श चतुष्टय से परिभाषित किया जाता है। दिगंबर परंपरा के तत्वार्थ सूत्र आदि में उनका क्रम स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण के रूप में है जिसका तर्कसंगत समर्थन राजवार्तिक आदि ग्रंथों में उपलब्ध है। इसके विपर्यास में, श्वेताम्बर आगमों में उनका क्रम रूप, रस, गंध एवं स्पर्श का है। यहां भी ऐसा प्रतीत होता है कि दिगंबर परंपरा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है और श्वेतांबर परंपरा इसके विपरीत दिशा में जाती है। इस क्रम-व्यत्यय का स्रोत एवं समय भी विचारणीय है।

9. सामाचारी के प्रकार

सामाचारी में साधुओं के सामान्य व्यवहारों से संबंधित प्रवृत्तियां निरूपित की जाती है। इसका विवरण एवं प्रकार अनेक दिगंबर और श्वेतांबर ग्रंथों में पाये जाते हैं। मूलाचार में सामाचारी के दो भेद हैं—सामान्य और विशेष तथा आवश्यक निर्युक्ति में तीन भेद हैं—(1) ओध (2) दशविध एवं (3) पद विभाग या विशेष। मूलाचार में ओध को ही सामान्य दशविध के रूप में निरूपित किया है। भगवती आराधना में भी दशविध सामाचारी है। सामान्यतः सामाचारी से दशविध सामाचारी ही माना जाता है। विशेष जानकारी तो इसी का विस्तार है। यह दशविध सामाचारी पांच प्रमुख ग्रंथों में दी गई है जो निम्न प्रकार है :

	स्थानांग 10.102 भगवती 25.7 आ.	**मूलाचार 4 (सामान्य समाचार)**	**उत्तराध्ययन 26.1.7**
1.	इच्छा	इच्छाकार	आवश्यकी
2.	मिथ्या	मिथ्याकार	नैषेधिकी
3.	तथाकार	तथाकार	आपृच्छना
4.	आवश्यकी	आक्षिका	प्रतिपृच्छना
5.	नैषैधिकी	निषेधिका	छंदना
6.	आपृच्छा	आपृच्छा	इच्छाकार
7.	प्रतिपृच्छा	प्रतिपृच्छा	मिथ्याकार

8.	छंदना	छंदन	तथाकार
9.	निमंत्रण	सनिमंत्रणा	अभ्युत्थान
10.	उपसंपदा	उपसंपद	उपसंपदा

यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन में इन सामाचारियों का क्रम अन्य ग्रंथों के क्रम से भिन्न है। उनमें नाम में भी अन्तर है। तथापि वृत्तिकारों के अनुसार अर्थभेद समाधेय है। ऐसा माना जाता है कि यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों से प्राचीन है। फलतः इनमें भी एक ही क्रम होना चाहिये था। उत्तराध्ययन की परम्परा के ग्रन्थ तत्कालीन भारत के एक ही क्षेत्र में रचे गये हैं। तब यह क्रम भिन्नता कब और कैसे आई? दिगम्बर परम्परा ने भी स्थानांग का ही अनुकरण किया लगता है? इससे क्या यह अनुमान लगाया जाय कि भगवती आदि के भाषा-रूपकारों को उत्तराध्ययन के विषय में जानकारी नहीं थी? इन क्रम-भिन्नताओं के कारण जिनवाणी की परस्पर अविरोधिता की धारणा भी विचारणीय हो जाती है।

10. प्रत्याख्यान के प्रकार

जैन आचार विधि में भौतिक आहार और उपाधि एवं भावनात्मक कषायादि बंधनों के क्रमशः या पूर्णतः त्याग आध्यात्मिक प्रगति के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। इसका उद्देश्य अनागत दोषों का परिहार व्रतों का निर्दोष पालन एवं भावशुद्धि है। भौतिक प्रत्याख्यान के माध्यम से भावनात्मक शुद्धि होती है। अतः इसका वर्णन अनेक ग्रंथों—भगवती 7.2, स्थानांग 10.101, आवश्यक निर्युक्ति 6 एवं मूलाचार 639. 40 में किया गया है। इसके दस प्रकार निर्दिष्ट हैं जो निम्न प्रकार हैं

	भगवती 7.2	स्थानांग 10.101	मूलाचार
1.	अनागत	अनागत	अनागत
2.	अतिक्रांत	अतिक्रांत	अतिक्रांत
3.	कोटिसहित	कोटिसहित	कोटिसहित
4.	नियंत्रित	नियंत्रित	निखण्डित
5.	साकार (सागार)	साकार (सापवाद)	साकार
6.	अनाकार (अनागार)	अनाकार (निरपवाद)	अनाकार
7.	परिमाण कृत	परिमाणकृत	परिमाणकृत
8.	निरवशेष	निरवशेष	अपरिशेष
9.	संकेत (सूचक)	संकेत	अध्वानगत (मार्गगत)

10. अद्धाप्रत्याख्यान (कालमानिक) | अध्वाप्रत्याख्यान | सहेतुक (उपसर्गादि)

भगवती में मूलगुण प्रत्याख्यान (पंच पाप-विरति) एवं उत्तरगुण प्रत्याख्यान की चर्चा पर उत्तरगुण प्रत्याख्यान के दस भेद बताये हैं। इन प्रकारों से यह स्पष्ट है कि मूलाचार में नवम एवं दशम प्रत्याख्यान का न केवल क्रम परिवर्तन है, आठवें नाम में भी (पर अर्थ में नहीं) अंतर है। पर उनके अर्थों में भी अंतर है। महाप्रज्ञ ने बताया है कि मूलाचार का क्रम व अर्थ अधिक स्वाभाविक एवं परंपरागत लगता है। दिगंबर परंपरा में इनका परंपरागत क्रम व्यत्यय कब, कैसे और क्यों हुआ यह समाधेय है।

11. उपासक या श्रावक प्रतिमा के ग्यारह प्रकार

सामान्य गृहस्थों की क्रमिक आध्यात्मिक प्रगति के लिये अनेक ग्रंथों में ग्यारह प्रतिमाओं या चरणों के पालन का उल्लेख है। इन चरणों की धारणा प्राचीन प्रतीत होती है, पर इनका नामोल्लेख सर्वप्रथम समवायांग में पाया जाता है पर भगवती, उत्तराध्ययन आदि में नहीं है। फलतः प्रतिमाओं की अवधारणा का विकास किंचित् उत्तरवर्ती प्रतीत होता है। ये प्रतिमायें सम्यग्दर्शन और अनेक व्रतों पर आधारित हैं। इनकी संख्या ग्यारह है जो स्थानांग 10.45 में भी निर्दिष्ट है। अनेक श्वेतांबर और दिगंबर ग्रंथों में भी इन प्रतिमाओं का उल्लेख है जैसा नीचे दिया गया है :

	समवाओं 11	अन्य ग्रन्थ	जैनेन्द्र सिद्धांत कोष
1.	दर्शन श्रावक	दर्शन श्रावक	दर्शन
2.	कृतव्रतकर्म	कृतव्रतकर्म	व्रत
3.	कृतसामायिक	कृतसामायिक	सामायिक
4.	प्रोषधोपवास-निरत	प्रोषधोपवासनिरत	प्रोषधोपवास
5.	दिवा-ब्रह्मचारी	रात्रि-भक्त परित्याग	सचित्त-त्याग
6.	ब्रह्मचारी (पूर्ण)	सचित परित्याग	रात्रि-भुक्तित्याग
7.	सचित्त परित्याग	दिवा ब्रह्मचारी	ब्रह्मचर्य
8.	आरंभ परित्यागी	पूर्ण ब्रह्मचारी	आरंभत्याग
9.	प्रेष्यपरित्यागी	आरंभ-प्रेषणपरित्याग	परिग्रहत्याग
10.	उद्दिष्टभक्त-परित्यागी	उद्दिष्ट भक्त वर्जन	अनुमतित्याग
11.	श्रमणभूत	श्रमणभूत	उद्दिष्ट त्याग

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि पहली चार प्रतिमाओं को छोड़ तीनों ही प्रकरणों में अन्य प्रतिमाओं के क्रम में अंतर है। दिगंबर परंपरा में श्रमणभूत प्रतिमा ही नहीं है। इन तीनों क्रमों का विकास-काल अन्वेषणीय है। दिगंबर परंपरा में 'श्रमणभूत' प्रतिमा का विलोपन भी विचारणीय है। श्वेतांबर परंपरा मानती है कि प्रतिमाधारण जीवन के अंतिमभाग (66 माह) में किया जाता है, पर दिगंबर परंपरा इसे कभी भी पालनीय मानती है। प्रतिमा-पालन निरपवाद होता है, व्रत सापवाद भी हो सकते हैं। प्रतिमाओं के क्रम का वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अध्ययन आवश्यक है।

उपसंहार

उपरोक्त सभी प्रकरण जैन आचार एवं विचारों से संबंधित हैं। उनमें पाये जाने वाले क्रम परिवर्तनों पर टीकाकारों या विद्वानों ने विचार किया है, यह देखने में नहीं आया। इसलिये आस्था को बलवती बनाने के लिये इन पर विचार करना आवश्यक है। पिछले लेख (तुलसी प्रज्ञा, 23.4) में इस हेतु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, बुद्धिवाद का विकास समयानुसारिता, उत्तर-दक्षिण प्रतिपत्ति तथा वैचारिक विकास के चरण के रूप में पांच बिंदु सुझाये गये थे। फिर भी इन प्रकरणों में क्रम-व्यत्यय, नामभेद तथा परिभाषा भेद से यह संकेत तो मिलता ही है कि प्राचीन युग में विचार-संचरण या ग्रंथ संसूचन की अल्पता थी, इसलिये विवरणों में एकरूपता सम्भव नहीं थी, इसलिये क्रम भेद के साथ नामभेद और अर्थभेद भी संभव हुए एवं परस्पर असंगतता-सी आई। श्रद्धावाद के युग में हमने इस असंगतता पर ध्यान ही नहीं दिया। इससे आज के बुद्धिवादी युग में ऊहापोह की स्थिति बनती जा रही है। आज—'सत्य' किमिति सर्वज्ञ एव जानाति अनुयायी बनकर हम अपनी जिज्ञासु वृत्ति को उपशांत बनाये नहीं रख सकते। हमें तो सिद्धसेन और समंतभद्र की 'शास्त्रस्य लक्षणं परीक्षा' की उक्ति का ही अनुसरण करना होगा और उपरोक्त विवरणों की संगतता को प्रतिष्ठित करना होगा। हमें भूतकाल की मनोवैज्ञानिकता से वर्तमान काल में आना होगा। नई सदी सिद्धांत-प्रशंसन की नहीं, सिद्धांत-विश्लेषण की सदी होगी। इस विश्लेषण के आधार पर ही हम जैन सिद्धांतों पर पश्चिमी विश्लेषकों के अनेक आरोपों को निराकृत कर सकेंगे एवं जैन धर्म की विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा को संबर्धित कर सकेंगे।

—जैन केन्द्र, रीवा (म. प्र.)

धवल मंगलगान रवाकुले

–ले. जस्टिस एम. एल. जैन

पूजा के सिलसिले में जब सामान्य अर्घ्य चढ़ाया जाता है तो प्रायः यह पद्य बोला जाता है–

उदक चन्दन तन्दुल पुष्पकैः, चरु सुदीप सुधूप फलार्घ्यकैः
धवल मंगल गान रवाकुले, जिन गृहे जिननाथ महं यजे।

यह पद्य नगण, भगण, भगण और रगण के संयोजन से बने द्रुत विलम्बित छन्द में हैं। कुछ लोग जिननाथम् की जगह जिनराजम् या जिननामम् भी पढ़ते हैं।

पं. फूलचन्द्र जी शास्त्री ने इसका अर्थ यों किया है–

मैं प्रशस्त मंगलमान के (मंगलीक जिनेन्द्र स्तवन के) शब्दों से गुंजायमान जिन मंदिर में जिनेन्द्र देव का जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल तथा अर्घ से पूजन करता हूँ। (ज्ञानपीठ पूजाञ्जजि, 1957, पृ. 28)

डा. सुदीप जैन ने 'जिननाथम्' के स्थान पर 'जिननामम्' पाठ के साथ इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है–उदक (जल), चन्दन, तंदुल (अक्षत), पुष्प, चरु (नैवेद्य), दीप, धूप, फल और अर्घ्य (अष्ट द्रव्यों का सम्मिलित रूप) के द्वारा निर्मल भावों से मंगल पाठों को पढ़ते हुए मैं जिन मंदिर में जिनेन्द्र परमात्मा के सहस्र नामों का स्तवन। पूजन करता हूँ।

(नमन और पूजन, 1996, पृ. 155)

इसी प्रकार का अर्थ प्रायः किया और समझा जाता है, परन्तु उक्त दोनों ही अर्थो में 'धवल मंगल' का अर्थ सही नहीं हो पाया है। यहाँ पर धवल का अर्थ प्रशस्त या निर्मल और मंगल का अर्थ मंगलीक जिनेन्द्र स्तवन या मंगल पाठों का पढ़ना नहीं है।

दरअसल यहाँ पर धवल मंगल गान से अभिप्राय है–धवल और मंगल शास्त्रीय रागों में गाया गया संगीत। मंदिरों में प्रभात के समय इन दोनों रागों का प्रयोग होता है। पूजा का समय भी प्रायः दिन के पहले भाग में ही होता है।

शास्त्रीय संगीत को हम बोलचाल की भाषा में पक्का गाना बोलते हैं। शास्त्रीय संगीत के मुख्य छह राग हैं–भैरव, कैशिक, हिण्डोल, दीपक, श्री और मेघ। संगीत साहित्य में इनको मानव की तरह मानकर इनके परविार में हरेक की 6-6 के हिसाब से 36 रागनियॉ मानी जाती हैं मानो राजा की रानियाँ।

सा (षड्ज), रे (ऋषभ), ग (गान्धार), म (मध्यम), प (पञ्चम), ध (धैवत) और नि (निषाद) ये सप्त स्वर (सात सुर) होते हैं। इनके क्रमिक आरोह-अवरोह

की बंदिश को मूर्च्छना कहते हैं। हर राग-रागिनी की अलग-अलग मूर्च्छना होती है जिससे उनकी पहचान की जाती है कि कौन-सी राग गाई जा रही है। हर राग-रागिनी के अलग-अलग देवता, ऋषि, कुल, जाति, वर्ण, छन्द, रस, मौसम, समय और अवसर मुकर्रर हैं। इनकी चित्रमालाएँ भी बनाई गई हैं।

धवल और मंगल दोनों ही धार्मिक और आध्यात्मिक राग हैं। दोनों ही प्रबन्ध गान हैं और कैशिक राग के अन्तांति माने जाते हैं। पञ्च नामक काव्य की रचना करने वाले कविवर रूपचन्द जी इस बात को जानते थे। इसलिए उनने अपने काव्य के अन्त में कहा कि जो जन भाव सहित स्वरों की साधना करके "मंगल गीत प्रबंध" में जिनवर का गुणगान करते हैं, वे 'मन वांछित फल पावहि'। अडयार लाइब्रेरी मद्रास से प्रकाशित सारङ्ग देय के 'संगीत रत्नाकर' (अध्याय 4) में इनका उल्लेख इस प्रकार है –

आशीभिर्धवलो गेयो धवलादि पदान्वितः
यदृच्छया वा धवलो गेयो लोक प्रसिद्धितः।

(धवल प्रबन्ध राग आशीर्वचन और धवलादि पदों के साथ अथवा लोक में प्रचलित सहज स्फूर्त रीति में गाया जाता है।)

कैशिक्याम् वोट्टरागे वा मंगलं मगलैः पदैः
विलम्बित लये गेयं मंगल छन्दसाथवा।

(कौशिक या वोट्ट (भोट) राग में मंगल नाम के छन्द में कल्याणक वाचक पदों के साथ विलम्बित लय में मंगल राग गाया जाता है।)

काव्य में छन्द का भी बड़ा महत्व है। महापुराण में तो भगवान ऋषभ देव को 'छन्दोविद्', 'छन्दकर्ता' ये नाम भी दिए गए हैं क्योंकि उन्होंने ही छन्दशास्त्र, अलंकार शास्त्र तथा गंधर्व शास्त्रों की रचना की थी और अपनी संतान को सिखाए भी थे। छन्द याने पद्य रचना में स्वर-साम्य, पद, गति, यति, लय और ध्वनि-प्रबन्ध होते हैं, वर्ण व स्वरों की एक बंदिश होती है जिसे प्रत्यय कहते हैं। छन्द की पहचान प्रत्यय से ही की जाती है। काव्यों में छन्द, रस और संगीत का अद्भुत समन्वय होता है। संगीत गायन में तीन प्रकार की लय होती है—द्रुत, मध्य और विलम्बित। हमारा अर्घ्य पद द्रुत विलम्बित छन्द में निबद्ध है अर्थात् जो बारी-बारी से द्रुत और विलम्बित लयों में गाया जा सकता है। छन्द का यह नाम भी गायन की लयों के नाम पर रखा गया जान पड़ता है।

गेय काव्य का जैन मंदिरों में विशेष महत्व है यह बात स्तोत्र दृष्टाष्टक (ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पृ. 7) के इन अवतरणों में स्पष्ट दिखाई गई है—

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं भवनादि वास विख्यात नाक गणिकागण गीयमानम्।
दृष्टं जिनेन्द्र भवनं सुरसिद्ध यक्ष गन्धर्व किन्नर करार्पित् वेणुवीणा।

संगीतमिश्रित नमस्कृत धीर नादेरापूरिततलोरु दिगन्तरालम्।।
मार्धुर्यवाद्यलय नृत्य विलासिनीनां लीला चलद्वलयनूपुरनाद रम्यम्।।

संक्षेप में यह कि ऐसे जिन भवन को देखा जिसमें भवनवासी आदि देवों के स्वर्ग में विख्यात गणिका-गण का गान हो रहा है, सुर, किन्नर, आदि बंसी और वीणा बजा रहे हैं जिनके संगीतमय धीर नाद से धरती आकाश आपूरित है और जिसमें विलासिनियों के नृत्य के साथ वाद्य, चंचल चूड़ियों और नुपूर की मधुर और रम्य झंकार हो रही है। इसकी वजह यह है कि मधुर, लय, ताल और स्वरों की बंदिश में गाया गया रस मय संगीत भक्त जनों का अपूर्व आनन्द, आह्लाद और उल्लास प्रदान करता है और शायद यही वजह हो कि भगवान के समवशरण में एक ओर ॐ की गंभीर ध्वनि गूंजती है तो दूसरी ओर चारों गोपुर द्वारों में तीन-तीन खण्डों की दो-दो नाट्यशालाओं में नृत्य और संगीत भी चलता रहता हैं

इसलिए हमारे अर्घ्य पद का सही-सही अर्थ यों होना चाहिए—

मैं, धवल और मंगल (रागों में गाए जा रहे) गानों की ध्वनि से भरे हुए जिन गृह में जिननाथ की पूजा (ऐसे) छोटे-छोटे अर्घ्यों से करता हूँ (जिनमें) जल, चन्दन, चावल, छोटे-छोटे फूल, चरु (नैवेद्य) अच्छे दीप, अच्छी धूप और फल हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की मंदिर मार्गी शाखा के पूजा संग्रहों में हर पूजा और भजन का छन्द और वह किस राग में गाया जाए सब प्रायः दिया हुआ है। पूजा में अर्घ्य के लिए जिन पदों का प्रयोग किया गया है उनमें से एक इस प्रकार है—

सलिल चन्दन पुष्प फल व्रजैः, सुविमलाक्षत दीप धूपकैः।
विविध नव्य मधुर प्रवरान्नकैः, जिनममीभिरहं वसुभिर्यजे।।

दोनों की समानता दृष्टव्य है। दोनों में पुष्प, अर्घ्य, धूप और अन्न आदि के अंत में तद्धित प्रत्यय 'क' लगाकर विनम्र भक्तजन अपनी भेंट की लाघवता को प्रदर्शित करते हैं।

काव्य की भाँति संगीत भी मनुष्य को भौतिकता से ऊपर उठाता है इसलिए भजन, पूजा आदि गेय काव्य में निबद्ध किए जाते हैं। वैष्णव, बौद्ध, जोगी, नाथ, सिक्ख सूफी और जैन भक्तों व संतों ने इसका भरपूर उपयोग किया है।

रुखे-सूखे वीतराग भेद विज्ञान में संगीत के राग के पुट आत्मा में अद्भुत, शान्त, भक्ति रस का संचार करते हैं और अन्ततः वीतरागता की ओर ही ले जाते हैं। कविवर इकबाल ने ठीक ही कहा—

शक्ति भी शाँति भी भक्तों के गीत में है
धरती के वासियों की मुक्ति पिरीत में है।

—215, मंदाकिनी एन्क्लेव
अलकनंदा, नई दिल्ली-110019

धर्म और अधर्म द्रव्य

–डॉ. सन्तोष कुमार जैन

द्रव्य का लक्षण करते हुए जैनदर्शन में उसे सत् या अस्तित्व रूप माना गया है और जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो, उसे सत् कहा गया है।[1] नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद एवं पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। उत्पाद एवं व्यय रूप अवस्था में अखण्ड रूप रहने वाला पदार्थ ध्रौव्य है। मिट्टी के पिण्ड में घट पर्याय प्रकट होना उत्पाद एवं पिण्ड पर्याय का लोप व्यय है। दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का बने रहना ध्रौव्य है। द्रव्य में ये तीनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं। एक वस्तु में विरोधी धर्मो को सिद्ध करने के लिए जैनदर्शन में, कथन की मुख्यता एवं गौणता स्वीकार की गई है। जिसमें गुण और पर्यायें पाई जाती हैं, उसे द्रव्य कहते हैं।[2] जो द्रव्य के आश्रित रहते हैं और जिसमें अन्य गुण नहीं रहते हें उसे गुण कहते हैं तथा उसके अन्दर जो प्रति समय बदलाव होता रहता है, उसे पर्याय या परिणाम कहते हैं।[3] द्रव्य में तीन अंश रहते हैं–द्रव्य, गुण और पर्याय। वस्तु का नित्य अंश द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है और क्रमभावी अंश पर्याय है। अंश कथन से यहाँ स्वभाव अभिप्रेत है।

द्रव्य मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं–जीव और अजीव। जिसमें चेतना गुण पाया जाता है, उसे जीव और जिसमें चेतना गुण नहीं पाया जाता है, उसे अजीव कहते हैं। अजीव के पाँच भेद हैं–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है। शेष चार जीव की तरह बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहे गये हैं। काय का अर्थ बहुप्रदेशी होना है। अतः जो अजीव भी हों और अस्तिकाय भी हों ऐसे द्रव्य चार ही हैं–धर्म, अधर्म, आकाश और

---

1. सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र, 5/29-30
2. गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। वही, 5/38.
3. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। तद्भावः परिणामः। वही, 5/41-42.

पुद्गल।[4] क्योंकि जीव द्रव्य कायरूप तो है किन्तु अजीव नहीं है और काल द्रव्य अजीव तो है किन्तु कायरूप नहीं है। जितने स्थान को एक अणु घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं और बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहा जाता है।

गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को जो गमन, हलन-चलन करने में सहायक होता है, उसे धर्म द्रव्य तथा जो ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को ठहराने में सहायक होता है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि जीव और पुद्गल की गति एवं स्थिति धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।[5] जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी इन द्रव्यों का अस्तित्व नहीं माना है। किन्तु वैज्ञानिक Aether और Gravitation Friction के रूप में इन दोनों द्रव्यों की सत्ता नामान्तर से स्वीकार करते रहे हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने धर्म द्रव्य को मछली के गमन में पानी की तरह तथा अधर्म द्रव्य को पथिक के रुकने में छाया की तरह कहा है।[6] जीव और पुद्गल की गति करने की शक्ति तो उनकी अपनी है, अतः गति के अन्तरंग कारण तो वे स्वयं हैं, किन्तु बाह्य सहायक के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, वह गति में बाह्य सहायक धर्म द्रव्य है। यदि कोई जीव या पुद्गल गमन न करे तो धर्म द्रव्य उन्हें चलने की प्रेरणा नहीं देता है। जैसे मछली में गमन की शक्ति स्वयं है, किन्तु बाह्य सहायक जल है, उसके बिना मछली गमन नहीं कर सकती है। पर यदि मछली न चले तो जल उसे चला भी नहीं सकता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिति में बाह्य सहायक है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में मार्ग में ठहरने वाले पथिकों को वृक्ष की छाया बाह्य सहायक होती है, पर वह उसे बलात् रोक भी नहीं सकती है। अतः धर्म एवं अधर्म द्रव्यों को जीव एवं पुद्गल की गति एवं स्थिति का उदासीन निमित्त माना गया है, प्रेरक निमित्त नहीं। प्रेरक निमित्त तो ध्वजा को हिलाने में पवन के समान होते हैं। धर्म एवं अधर्म द्रव्य ऐसे निमित्त नहीं हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य यद्यपि प्रेरक निमित्त न होकर उदासीन निमित्त

---

4. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। वही, 5/1.
5. गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। तत्त्वार्थसूत्र 5/17
6. 'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाणगमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गणजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।' द्रव्यसंग्रह, 17-18.

हैं, तथापि वे अकिंचित्कर नहीं है। अपितु दोनों की कथंचित् प्रधानता भी स्वीकार की गई है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि यदि मुक्त जीव ऊर्ध्व गति स्वभाव वाला है तो लोकान्त से ऊपर क्यों गमन नहीं करता है? वे समाधान करते हैं कि गति रूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए अलोकाश में गमन नहीं होता है और यदि अलोक में गमन माना जाता है तो लोकाकाश एवं लोकाकाश का विभाजन ही नहीं बन सकता है।[7] राजवार्तिक, पञ्चास्तिकायटीका आदि में भी इसी प्रकार का कथन किया गया है। भगवती आराधना में कहा गया है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्ध भगवान् लोक से ऊपर नहीं जाते हैं। इसलिए धर्म द्रव्य ही जीव एवं पुद्गल की गति को करता है। अधर्म द्रव्य के निमित्त से ही सिद्ध भगवान् लोकाग्र पर अनन्तकाल निश्चल ठहरते हैं। इसलिए अधर्म द्रव्य ही जीव एवं पुद्गलों की स्थिति का कर्त्ता है।[8]

धर्म और अधर्म द्रव्य के कारण ही लोकालोक की व्यवस्था बनी है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा भी है कि यह लोकालोक का विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए। अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं, वहाँ तक लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है। यदि धर्मास्तिकाय का सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलों की गति के नियम का हेतु न रहने से लोकालोक का विभाग नहीं बनता है। उसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकाय का सद्भाव न माना जाये तो स्थिति का निमित्त न रहने से जीव और पुद्गलों की स्थिति का अभाव हो जाता है, जिससे लोकालोक का विभाग नहीं बनता। इसलिए इन दोनों के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा लोकालोक के विभाग की सिद्धि होती है।[9]

जीव और पुद्गल में स्वभाव से गतिस्थिति नहीं है। काल की भाँति सर्वद्रव्य में अपने उपादान कारण एवं सहकारी कारण बनने का सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि

---

7. सर्वार्थसिद्धि 10/8
8. धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण।
   गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं।।
   कालमणंतम धम्मो पग्गहिदो ठादि गमणमोगाढ़े।
   सो उवकारो इट्ठो अठिदि समावेण जीवाणं।। भगवती आराधना, 2134, 2139.
9. द्रष्टव्य – सर्वार्थसिर्द्धि 5/12 एवं 10/8.

यदि अपने से भिन्न बाह्य कारण की सहकारिता की आवश्यकता न हो तो सर्वद्रव्यों में साधारण गति, स्थिति एवं अवगाहन के लिए सहकारी कारणभूत धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्यों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। जबकि आकाश का कार्य अवगाहन तो प्रत्यक्षतः सिद्ध है ही। अन्य दार्शनिक भी आकाश को स्वीकार करते हैं। अतः उन्हें गति एवं स्थिति के हेतुभूत धर्म एवं अधर्म द्रव्य भी स्वीकार करना चाहिए।

भट्ट अकलंकदेव ने उन लोगों का सयुक्तिक समाधान किया है जो लोग अमूर्तिक होने से धर्म एवं अधर्म द्रव्य को गति एवं स्थिति का हेतु मानने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, जिससे कि अमूर्तिकपने के कारण गति-स्थिति का अभाव माना जा सके। जिस प्रकार अमूर्त भी आकाश सब द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त होता है, उसी प्रकार अमूर्त भी धर्म और अधर्म गति और स्थिति में साधारण निमित्त हो सकते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने अन्य दार्शनिकों के मत भी रूप ने समर्थन में प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं कि सांख्य मत का अमूर्त भी प्रधान तत्त्व पुरुष के भोग का निमित्त होता है, बौद्ध मत का अमूर्त भी विज्ञान नाम रूप की उत्पत्ति का कारण बन जाता है तथा मीमांसक मत का अमूर्त भी अदृष्ट पुरुष के उपभोग का कारण माना गया है, तो फिर धर्म-अधर्म को गतिस्थिति के हेतु मानने में क्या बाधा है?[10] यद्यपि भूमि, जल आदि भी गति में कारण देखे जाते हैं, किन्तु ये विशिष्ट कारण हैं, जबकि धर्म एवं अधर्म द्रव्य गति एवं स्थिति के साधारण कारण हैं। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है। एक कार्य के अनेक कारण होते हैं, अतः धर्म एवं अधर्म को मानना युक्त है।[12]

आचार्य पूज्यपाद ने एक पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार है, उसे आकाश का मान लेना उचित है, क्योंकि आकाश सर्वगत है। इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं धर्मादिक द्रव्यों को अवगाहन देना आकाश का उपकार है। यदि एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन माने जाते हैं तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त हो जावेगा।[13] जिस प्रकार मछली की गति जल में होती है, जल के अभाव में पृथिवी पर नहीं होती है,

10. राजवार्तिक 5/17.
12. 'भूमिजलान्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामितिचेत्? न, साधारणाश्रय इति विशिष्टोक्तत्वात्। अनेककारण साध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य।' – सवार्थसिद्धि, 5/17.
13. सर्वार्थसिद्धि 5/17.

जबकि आकाश सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार आकाश के रहने पर भी धर्माधर्म के होने पर ही जीव एवं पुद्गल की गति एवं स्थिति होती हैं यदि आकाश को निमित्त माना जावे तो मछली की गति पृथिवी पर भी होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए धर्म एवं अधर्म ही गति-स्थिति में निमित्त हैं, आकाश नहीं। पञ्चास्तिकाय में भी कहा गया है कि यदि आकाश ही अवकाश हेतु के समान गतिस्थिति हेतु भी हो तो ऊर्ध्वगति प्रधान सिद्ध लोकान्त में क्यों स्थित हों? यतः जिनवरों ने सिद्धों की स्थिति लोक के शिखर पर कही है, इसलिए गति-स्थिति हेतुत्व आकाश में नहीं होता। यदि आकाश जीव एवं पुद्गलों की गति हेतु एवं स्थिति हेतु हो तो अलोक की हानि तथा लोक की वृद्धि का प्रसंग उपस्थित हो जावेगा। इसलिए गति और स्थिति के कारण धर्म एवं अधर्म हें, आकाश नहीं है—ऐसा जिनवरों ने लोक स्वभाव के श्रोताओं से कहा है।[15]

प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होने से भी धर्म-अधर्म की असिद्धि नहीं है। क्योंकि दार्शनिकों ने पदार्थों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उभयविध स्वीकार किया है। अनुपलब्धि जैनों के लिए कोई हेतु भी नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञदेव ने धर्मादिक द्रव्यों को सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र से प्रत्यक्ष जाना है और उनके उपदेश से श्रुतज्ञानियों ने भी जाना है।[16] धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव मानने पर लोकालोक के विभाग का प्रसंग प्राप्त होता है।[17] यद्यपि धर्म एवं अधर्म द्रव्य समान बलशाली है तथापि धर्म द्रव्य से स्थिति का तथा अधर्म द्रव्य से गति का प्रतिबन्ध नहीं होता है, क्योंकि ये प्रेरक निमित्त नहीं हैं मात्र साधारण उदासीन निमित्त हैं।[18] धर्मास्तिकाय अगुरुगुरु गुण रूप सदैव परिणमित होता है, नित्य है तथा गतिक्रिया युक्त द्रव्यों की क्रिया में निमित्तभूत है और स्वयं अकार्य है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी है। वह स्थिति में निमित्तभूत है।[19]

धर्म एवं अधर्म द्रव्य दोनों सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं।[20] घर में जिस

---

14. द्रष्टव्य—राजवार्तिक 5/17.
15. पञ्चास्तिकाय, 92-95.
16. सर्वार्थसिद्धि, 5/17
17. वही, 10/8.
18. सर्वार्थसिद्धि, 5/17.
19. पञ्चास्तिकाय, 84, 86.

प्रकार घट अवस्थित रहता है, उस प्रकार लोकाकाश में धर्म एवं अधर्म द्रव्यों का अवगाह नहीं है, किन्तु जिस प्रकार तिल में तैल रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश में धर्म एवं अधर्म द्रव्य व्याप्त हैं। धर्म, अधर्म एवं लोकाकाश समान परिमाण वाले तथा अपृथक् भूत हैं तथापि के पृथक्-पृथक् सत्ताधारी हैं।[21] जिस प्रकार रूप रस आदि में तुल्य देशकाल होने पर भी अपने-अपने विशिष्ट लक्षण से अनेकता है, उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में भी लक्षणभेद से अनेकता है। यतः जीव एवं पुद्गल लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं, अतः यह निश्चित है कि उनके उपकारक (उदासीन निमित्त) कारणों को भी सर्वगत ही होना चाहिए। क्योंकि उनके सर्वगत न होने पर उनकी सर्वत्रवृत्ति संभव नहीं है। यही तर्क प्रवचनसार की तत्त्व-प्रदीप टीका में भी दिया गया है। यथा—धर्माधर्मो सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिः तदेकदेशे च गमनास्थानासंभवात्।[22] अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोक में हैं, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है, ऐसे जीव एवं पुद्गल की गति एवं स्थिति लोक से बाहर नहीं होती और न लोक के एक देश में होती है। अतः स्पष्ट है कि धर्म एवं अधर्म दोनों द्रव्य लोकव्यापी हैं, लोक में व्याप्त होते हुए भी पृथक्-पृथक् सत्ताधारी हैं। जीव, पुद्गल की लोक में सत्ता धर्माधर्म के लोकव्यापित्व का हेतु है।

धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों एक एक एवं अखण्ड हैं। दोनों अमूर्तिक अजीव तथा असंख्यात प्रदेशी हैं। दोनों क्रमशः गति एवं स्थिति में निमित्त होते हुए भी स्वयं निष्क्रिय हैं। इनके कारण ही अखण्ड आकाश लोक एवं अलोक में विभाजित है।

—दि० जैन हायर सैकेण्ड्री स्कूल
सीकर (राज०)

---

20. 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।' तत्त्वार्थसूत्र 5/13.,
21. पञ्चास्तिकाय, 96
22. प्रवचनसार, 136 की तत्त्वप्रदीप टीका।

जैन धर्म की प्राचीनता, भगवान महावीर के सिद्धान्तों की आज के समय में उपयोगिता

–जगदीश प्रसाद जैन

प्रायः जो लोग श्रमण संस्कृति से परिचित नहीं वे जैन धर्म का प्रादुर्भाव भगवान महावीर स्वामी से समझते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रारम्भ से ही श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति थी, और ये संस्कृतियां अनादि निधन हैं। श्रमण संस्कृति के तपस्वियों को श्रमण एवं मुनि तथा वैदिक संस्कृति पर बहुत प्रभाव पड़ा। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला। श्रमण दिगम्बर होते हैं, मुनि शब्द ज्ञान तप वैराय का सूचक है। डा. गुलाब राय ने ऐसा विचार प्रकट किया कि श्रमण संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को अमरत्व प्रदान किया इसने सहिष्णुता, अहिंसा, त्याग, उदारता, सत्य, अपरिग्रह, विश्वबन्धु अनेकान्तवाद, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र आदि अमूल्य रत्नों से विभूषित किया। श्रमण संस्कृति ही जैन धर्म है।

जैनधर्मानुसार काल दो भागों में विभक्त होता हैं। अवसर्पिणी काल 2 उत्सर्पिणीकाल। प्रत्येक की अवधि दस कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष होती है। अर्थात् बीस कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष का एक काल होता है इनको 6-6 भागों में विभक्त किया गया है। (पहला) सुखमा-सुखमा काल 4 कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष, (दूसरा) सुखमा, काल 3 कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष, (तीसरा) सुखमा, दुखमा काल 4 कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष, (चौथा) दुखमा-सुखमा काल 42000 वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष, (पांचवा) दुखमा काल 21000 वर्ष, (छटवां) दुखमा-दुखमा काल 21000 वर्ष इसी तरह उत्सर्पिणी काल में छठवां, पांचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा तथा पहला काल आता है। प्रत्येक काल में 24 तीर्थकर होते हैं। ऐसी 148 चौबीसी बीतने पर एक हुन्डावसर्पणी काल आता है। वर्तमान में हुन्डावसर्पिणी काल चल रहा है। वर्तमान हुन्डावसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थकर हुए उनके नाम इस प्रकार हैं :–

1. ऋषभदेव 2. अजितनाथ 3. सम्भव नाथ 4. अभिनन्दन नाथ 5. सुमति नाथ 6. पद्म 7. सुपार्श्वनाथ 8. चन्द्रप्रभ 9. पुष्पदंत 10. शीतलनाथ 11. श्रेयांसनाथ 12. वासुपूज्य 13. विमलनाथ 14. अनन्तनाथ

15. धर्मनाथ 16. शान्तिनाथ 17. कुन्थुनाथ 18. अरहनाथ 19. मल्लिनाथ 20. मुनिसुव्रतनाथ 21. नमिनाथ 22. नेमिनाथ 23. पारसनाथ 24. वर्द्धमान या महावीर।

पुराणों में प्रथम दो कालों को भोग-भूमि काल माना हैं इन कालों में आधुनिक ग्राम-नगर जैसी सभ्यता नहीं थी। लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती थी, ये दस प्रकार के थे। लोग परिवार बनाकर नहीं रहते थे तथा खेती व्यापार शिल्पकला आदि करना नहीं जानते थे। भाई-बहन का युगल जन्म होता था 49 दिन में वे तरुण हो जाते थे। अनायास ही परस्पर विवाह हो जाता था तीसरे काल की अवधि लगभग 84 लाख पूर्व वर्ष से कुछ अधिक रह गई, कल्पवृक्षों का अभाव होने लगा सूर्य चन्द्रमा दिखाई देने लगे प्रजा भूख से व्याकुल होने लगी भूख से पीड़ित प्रजा नाभिराय के पास पहुंची तो उन्होंने धैर्य बंधाया और ऋषभदेव के पास भेजा ऋषभेदव ने कृषि, मसि आदि की शिक्षा दी इसी कार्य के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य शूद्र वर्णो की व्यवस्था की गई जो कालान्तर में जाति में बदल गई। भरत चक्रवर्ती ने कुछ लोगों को श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें ब्राह्मण कहा उनका काम पठन-पाठन एवं धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न कराना था। इसी तीसरे काल में चौदह कुलकरों का जन्म हुआ जिन्हें मनु भी कहते हैं। तीसरे काल में जब चौरासी लाख पूर्व वर्ष तथा 3 वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे तो चौदहवें कुल का नाभिराय एवं मरूदेवी के जैन धर्म के इस काल के प्रथम तीर्थकर ऋषभेदव का जन्म चैत्र कृष्णा नौमी को हुआ देवों ने ऋषभेदव का जन्मोत्सव मनाया इनकी 84 लाख पूर्व वर्ष की आयु थी तथा 63 लाख पूर्व वर्ष शासन किया दीक्षाकाल एवं केवली अवस्था में एक लाख पूर्व वर्ष कम एक हजार वर्ष रहे जब सुखमा-दुखमा तीसरे काल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे तब ऋषभदेव ने समस्त कर्मो की कालिमा को काटकर कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया और सिद्ध सिला पर विराजमान हुए।

वैदिक धर्म के प्रमुख ग्रंथ श्रीमद्भागवत में ऋषभेदव को आदिब्रह्मा जैन धर्म का इस काल का प्रथम तीर्थकर माना है इनके 100 पुत्र 2 पुत्रियां हुई। वड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए तथा इनकी वड़ी पुत्री ब्राह्मी के नाम पर ब्राह्मीलिपि चली। इन्हें 18 लिपियो का ज्ञान था। मार्कन्डेय पुराण के अध्याय 50.39.41 के अनुसार ऋषभ ने विरक्त होकर राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को सौंपा उसी के नाम पर आर्यावर्त का नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत चक्रवर्ती हुआ। इसी प्रकार का उल्लेख वैदिक कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुणपुराण, वाराहपुराण, लिंगपुराण, स्कन्धपुराण

आदि में आया है। जिसमें जैनधर्म को श्रेष्ठ मानते हुए सनातन माना है।

नगर पुराण में कृतयुग में दस ब्राह्मणों को भोजन कराने का जो फल है कलयुग में एक अर्हन्त भक्त मुनि को भोजन कराने का है। वेदों में भी 24 तीर्थकरों का स्तवन किया गया है। (यजुर्वेद अ. 25 म. 16-91- अ. 6 वर्ग) में उल्लेख है जिसमें ऋषभेदव सुपार्श्वनाथ अरिष्टनेमि एवं वर्द्धमान चार तीर्थकरों का स्तवन किया गया है। "ओम ऋषभ पवित्रं पुरू हुतमः ध्वज्ञ यज्ञेशु नग्नपरम् माह संस्तुतवरं शत्रुं जयन्तं पशुरिन्द्र माहतिरित स्वाहाः ओमं त्रातार मिन्द्र हवे शक मज्जितं तद वर्द्धमान पुरूहितन्द्रं माहरिति स्वाहा शान्त्यर्थ मनु विधियते सो स्माक अरिष्ट नेमि स्वाहाः।

ऋषभदेव को हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ एवं उनके भाई श्रेयांस द्वारा प्रथम आहार में ईख का रस देने पर इनके वंश को इक्षाकुवंश कहा गया तथा भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के नाम पर सूर्यवंश चला। इसके बाद लगभग 15 पीढ़ी बाद राजा रघु इसी वंश में हुए जो महान् पराक्रमी थे इनके नाम पर रघुवंश पड़ा। इस समय भगवान अजितनाथ तीर्थकर का काल-चक्र चल रहा था।

नाभिराय ऋषभनाथ के एवं भरतचक्रवर्ती के संबंध में हिन्दू शास्त्रो के प्रमाण जिनमें जैन धर्म की प्राचीनता एवं इन्हीं भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ना और उनका चक्रवर्ती होना प्रमाणित होता है–

नाभिस्त्व जनयत्पुत्र मरुदेव्यां महाद्युतिः,
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रं शताग्रजः
सो अभिषिच्य भरतं पुत्र प्राव्राज्यमास्थितः
हिमाद् दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवदेयत्
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—वायुपुराण पू. अ 33

"ज्ञान वैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रियः महोरगान्
सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मा नमीश्वरम्
नग्नो नटो निराहारो चीरी ध्यान्तगतो हि सः
निराशस्त्यक्तसन्देहः शवमाप परं पदम्
हिमान्द्रं दक्षिणं वर्ष भाग्नाय न्यवेदयत्
तस्मात् भारतं वष नम्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

-लिंग पुराण अ. 47

"नामेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोभवत्
तस्य नाम्ना त्विह वर्ष भारतं चेति कथ्यते
स्कन्ध पुराणे महिश्वर खंड के कौमारखण्ड अ. 37

—वराह पुराण अध्याय 74

"नामेःमेरूदेव्यां पुत्रभजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतो
पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः
हेमाद्रे दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास

ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्वार्द्ध अनुपश पाद अध्याय-14

"सो अभिषिच्चर्षभः पुत्र महाआब्राज्यम स्थितः
हिमान्ह दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः

इसी प्रकार हरिवंश पुराण सर्ग 8 श्लेक 55, 105 व सर्ग 9 श्लोक 21, मार्कन्डेय पुराण अध्याय 50 श्लोक 40-41 कुर्मपारण अध्याय 41 श्लोक 38 विष्णुपुराण द्वितीयांश अध्याय। श्लोक 27-28 में भी इसी से मिलता-जुलता अंकित है।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध 5 अध्याय 4 में लिखा है 'येषां खलु महयोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत् येनेद वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति इसी प्रकार इसी ग्रन्थ पर एक स्थान पर लिखा है—

तेषां वे भरतो ज्येष्ठो नारायण परायणः
विख्यातं वर्ष मेतन्नाम्ना भारतमुक्तमम्
मत्स्य पुराण अध्याय 14/5 में लिखा है—
"भरणात् प्रजनाच्चेव मनुर्भरत उच्यते
निरूक्त बचनश्चैव वर्ष तद भारतः स्मृतम्
—वायु पुराण प्रथम खण्ड अ. 45-76
"भरणाच्य प्रजानां" वे मनुर्भरत उच्यते"

वैदिक शास्त्र वायु पुराण 33/52 में भरत को मनु को जैनधर्म का उपासक माना है। डा. विशुद्धानंद पाठक, डा. जयशंकर मिश्र, डा. सर्वपल्ली रामाकृष्णन् ने धर्म की प्राचीनता के विषय में विचार प्रकट किये हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिली योग मूर्तियां जैनधर्म की प्राचीनता का प्रमाण है। वैदिक संस्कृत के यजुर्वेद, अथर्वेद गोपदब्राह्मण एवं भागवत आदि महान ग्रन्थों में श्रमण संस्कृति नाभिराय, ऋषभदेव, भरत, बाहुबलि एवं अरिष्ट नेमि आदि का वर्णन आया है। इन्हें जैनधर्म का उपासक दिगम्वर श्रमण माना है। यजुर्वेद,

ऋग्वेद में ऋषभदेव एवं अरिष्टनेमि की स्तुति की गई। नेपाल का प्राचीन इतिहास जैनिज्म इन विहार पृष्ठ-7 जैन धर्म की प्राचीनता को स्वीकारता है। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी जैन धर्म के संबंध में उल्लेख हैं।

इतिहास में तीन भरतों का उल्लेख आया है।

1. ऋषभेदव के पुत्र भरत जो सूर्यवंशी थे जैनधर्म के उपासक और चक्रवर्ती हुए। ये ऋषभदेव के काल में हुए। वैदिक शास्त्र के अनुसार सतयुग था।
2. दशरथ पुत्र भरत ये भी सूर्यवंशी थे जैनधर्म के उपासक थे और राम के प्रतिनिधि के रूप में शासक रहे। ये मुनिसुव्रत नाथ के काल में हुए। वैदिक शास्त्रों के अनुसार यह काल त्रेता युग था।
3. दुष्यन्तपुत्र भरत ये चन्द्रवंशी थे। वैदिक शास्त्रों के अनुसार द्वापुर युग था।

चन्द्रवंशी भारत में इलावृत से आये, प्रथम इलावर्ती राजा पुरूरवा आया इनका कुल एल कहलाया। उसकी इक्कतीसवीं पीढ़ी में दुष्यन्त पुत्र भरत हुए जिसका जन्म पुरूरवा के भारत आने के लगभग 1500 वर्ष बाद हुआ। पुरूरवा जिस समय यहां आया इस देश का नाम भारतवर्ष था। इससे सिद्ध होता है कि ऋषभ का स्पष्ट सम्बन्ध सूर्यवंशी ऋषभ के पुत्र भरत से है।

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद दक्षिणे च यत्।
वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा।।
वायु पुराण में अ.-45-75, 33/52
भरतः आदित्यस्तस्य भा भारती

इन्हीं भरत को योगी ऋषभेदव तीर्थकर के पुत्र चक्रवर्ती को श्रमण संस्कृति का उपासक माना है। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि जैनधर्म एवं श्रमण संस्कृति अनादि निधन एवं प्राचीन है।

इन्हीं भगवान् ऋषभेदव के पुत्र भरत चक्रवर्ती का पुत्र जो पूर्व पर्याय में पुरूरवा भील था, जिसने जैन मुनि से मांस-मधु न खाने का व्रत लिया था तथा सल्लेखना धारण कर शरीर त्यागने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती का पुत्र मारीच हुआ और उन्होंने अपने बाबा ऋषभदेव से कक्ष महाकक्ष आदि राजा-महाराजों के साथ दीक्षा ली, मगर भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी की वेदना को सहन नहीं कर सका। अतः पथभ्रष्ट हो गया और अपने बाबा की पूज्यता की भावना से त्रस्त हो 363 अन्य मत प्रचलित किये। इसके बाद अनन्त भवों को त्यागकर अणुव्रत धारण कर सम्यक्त्वपूर्वक सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा। इसके बाद सम्यक्त्व के प्रभाव से दसवें भव में चैत्रशुक्ला तेरस विहार प्रान्त के वैशाली नगर के कुण्डलपुर ग्राम में राजा सिद्धार्थ

के यहां माता त्रिशला के उदर से जन्म हुआ। देवों ने आकर जन्मोत्सव मनाया। महावीर आजन्म ब्रह्मचारी रहे। तीस वर्ष की उम्र में मार्गशीर्ष कृष्णा दसवीं को दिगम्बर दीक्षा ली और बारह वर्ष तक घोर ताप किया। 30 वर्ष तक केवली अवस्था में संसारी लोगों की भ्रान्तियों को दूर कर धर्म का मार्ग बताया। उस समय राजा श्रेणिक मुख्य श्रोता थे तथा 72 वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को कर्मों की कालिमा को काटकर पावापुर से मोक्ष प्राप्त किया। इन्हें मोक्ष गये 2556 वर्ष हो गये इनके मोक्ष जाने के समय चतुर्थकाल में 3 साल साढ़े आठ माह शेष थे। भगवान महावीर ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करते हुए आत्मा के कल्याण हेतु पुरुषार्थ करते हुए स्व को जानने का मार्ग दिखलाया। अहिंसा, सत्य, अचौर्ष अपरिग्रह ब्रह्मचर्य तप त्याग एवं अनेकान्तवाद का माग दिखलाया। इस मार्ग पर चल कर पुरुषार्थ करके जीवमात्र भगवान् हो सकता है। आवश्यकता स्वयं को जानने की है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र को धारण करने की आवश्यकता है। अपने विकारी भावों को छोड़कर स्व एवं पर को भेद दृष्टि से जानकर निर्ग्रन्थ बनना होगा कर्म की कालिमा को जिस दिन हम काट देंगे भगवान् महावीर की तरह जन्म मरण की वेदना से रहित सिद्ध पद को प्राप्त कर लेंगे।

आज हमने भगवान् महावीर एवं उनके सिद्धान्तों को भुला दिया है। चारों तरफ आतंकवाद हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह एवं कुशील का वातावरण है। दहेज की बलवेदी पर स्त्रियों की हत्या की जा रही है। भ्रूणपरीक्षण के नाम पर गर्भ गिराकर हत्या की जा रही है। कोई चीज शुद्ध नहीं मिल रही है। अभी वेजीटेबिल एवं घी में चर्बी मिलाने के उदाहरण सामने आये हैं। एकतरफ सम्पत्ति कुछ हाथों में केन्द्रित हो रही है तो दूसरी तरफ बहुत से लोगों को एक बार भी भोजन नसीब नहीं। चोरी-डकैती-अपहरण की घटनाएं चरम सीमा पर हैं। चारों तरफ आतंकवाद फैल रहा है। अफीम माफियाओं की सम्पत्ति हथियार खरीदकर संसार में आतंकवाद फैला रही है। शराब, मीट, अफीम आदि नसीली चीजों का प्रचलन बढ़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र महासंघ भी अपने को असहाय महसूस कर रहा है। महिलाओं को व्यभचारिणी बनाया जा रहा है। धर्म कर्म को हम भूलते जा रहे हैं देश में असत्य एवं भ्रष्टाचार का बोलवाला है। कुछ लोग टैक्सों की चोरी कर रहे हैं। न्याय व्यवस्था कार्यपालिका एवं विधानशक्ति भ्रष्टाचार में लिप्त है। देश की रक्षा एवं चिकित्सा आदि में भी कमीशन लिया जा रहा है। हर वस्तु में मिलावट जारी है। राजा का जैसा

चरित्र होता है वैसा ही प्रजा अनुसरण करती है आज मंत्री परिपद के सदस्यों में ऐसे लोग भी मौजूद हैं जिनपर चोरी, डकैती, हत्या, आतंकवाद, टैक्स चोरी आदि के केश हैं फिर जनता को न्याय कहां मिलेगा प्रजातंत्र को पदलोलुपी दलबदुओं एवं भ्रष्ट राजनीतिज्ञों ने बदनाम कर दिया है। विश्वबन्धुत्व की भावना का लोप हो रहा है। भगवान महावीर के सिद्धान्त सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या अनेकान्तवाद को अपनाकर विश्व बन्धुत्व की भावना को साकार किया जा सकता है तथा देश में व्याप्त कुरीतियों आतंकवाद भुखमरी बेरोजगारी दहेज प्रथा भ्रष्टाचार मिलावट हिंसा झूठ, चोरी, परिग्रह आदि से मुक्ति मिल सकती है तथा संसार में विश्व बन्धुत्व की भावनाओं को बढ़ाकर महात्मा गांधी के सत्य अहिंसा एवं विनोवा भावे के विश्व बन्धुत्व की भावनाओं को साकार रूप दिया जा सकता है।

—58ए/40, ज्योति नगर,
खेरिया रोड, आगरा (उ०प्र०)

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रु.

वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे

यह अंक स्वाध्यायशालाओं एवं मंदिरों की माँग पर निःशुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

●

संपादन परामर्शदाता : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

इस अंक के संपादक : डा. जय कुमार जैन

प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एड्वोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2

मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

- Donations are exempted under the 80 G, of Income Tax Act.

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

अनेकान्त

श्री सम्मेद शिखर अंक

वीर सेवा मंदिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष-53 किरण-2

अप्रैल-जून 2000

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

आजीवन सदस्यता
1100/-

वार्षिक शुल्क
15/-

इस अंक का मूल्य
5/-

मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारत भूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिंटर्स-110032

सिद्धभक्ति

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे
अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे
य वंदिमो णिच्चं॥

आठ प्रकार के कर्मों से युक्त आठ गुणों से सम्पन्न, अष्टय पृथिवी में स्थित एवं कृत्तकृत्य सिद्धों को मैं नित्य वन्दना करता हूं।

जरमरणजन्मरहिया ते सिद्धा
मम सुभत्तिजुत्तस्स।
दिंतुवरणाणलाहं बुहयण
परियत्थणंपरमसुद्धं॥

जरा, मरण और जन्म से रहित वे सिद्ध भगवान मुझे, समीचीन भक्ति से युक्त जनों द्वारा प्रार्थित परमशुद्ध ज्ञान लाभ दें।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 दूरभाष : 325022

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

इस अंक में

विशेष सूचना : विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पदाक उनके विचारों से सहमत हो।

पत्र में प्रायः विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

सिद्धपद आत्मा की सर्वोच्च स्वाभाविक ऐसी अवस्था है जिसे प्राप्त कर भव भ्रमण से छुटकारा मिल जाता है। जैन धर्म में इस पद प्राप्ति हेतु दिगम्बरत्व धारण कर तप, त्याग, व्रत, संयम, ध्यानादि का विधान है। जिस स्थान पर ऐसे साधुओं का निमित्त मिले, वह स्थान भी तपस्वी संतों के प्रभाव से परमपूज्य हो जाता है-

'कीटोऽपि सुमनःसंगादारोहतिसतां शिरः'

अनादि निधन श्री सम्मेद शिखर को जैसा सौभाग्य प्राप्त है, वैसा अन्य किसी क्षेत्र को प्राप्त नहीं है। यहां से भूतकाल के सभी तीर्थंकरों और वर्तमान काल के बीस तीर्थंकरों और असंख्यात मुनियों को सिद्धपद की प्राप्ति का सुयोग मिला है। एतदर्थ इस पर्वत के कण-कण का सदा से भक्ति-भाव पूर्वक वन्दन होता रहा है।

हमें परम हर्ष है कि श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन) महासचिव वीर सेवा मंदिर ने श्री सम्मेद शिखर क्षेत्र रक्षण में संलग्न रहते हुए, भक्ति में भाव विभोर होकर, स्वयं के भावों में पवित्रता अर्जन कर भक्तिगीत, आरती व पूजन लिखकर सर्व सामान्य के लिए भी पुण्यार्जन का अवसर प्रदान किया है। इस शुभ कार्य के लिए शुभकामनाएं व आशीर्वाद के साथ भावना भाता हूं, ऐसे ही आत्मकल्याण मार्ग में उनकी सदैव प्रवृत्ति बनी रहे।

— **पद्मचन्द्र शास्त्री**
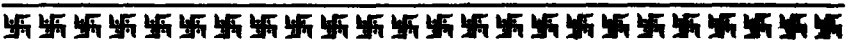
शाश्वत तीर्थाधिराज

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत 'तीर्थाटन' का विशिष्ट स्थान है। सभी धर्मों में तीर्थक्षेत्रों की वन्दना करना मानव-जीवन का अनिवार्य अंग माना गया है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी वय में तीर्थयात्रा के लिए लालायित रहता है। श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत उन-उन स्थानों को तीर्थक्षेत्र के रूप में बहुमान दिया गया है, जहां पर तीर्थंकरों के अतिशय हुए हैं या जहां से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया है। अतिशय प्रायः देवकृत माने गए हैं और उनका प्रभाव कुछ काल-विशेष में ही होता है, इसीलिए समग्र जैन परम्परागत दार्शनिक विवेचना में मोक्ष को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सौभाग्य से हमें जैन परम्परा से सम्बद्ध अतिशय क्षेत्र और सिद्धक्षेत्र के रूप में अनेक क्षेत्र प्राप्त हैं, उदाहरण के लिए—उत्तर में हिमालय-कैलाश पर्वत, जहां से आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया। बिहार तो श्रमण परम्परा का हृदय-स्थल रहा है। बिहार स्थित सम्मेदाचल शाश्वत तीर्थक्षेत्र के रूप में सुविख्यात है। यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान काल में सम्मेद शिखर से बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया है और असंख्य मुनि भी वहां से मोक्ष गए हैं।

बिहार प्रान्त में एक नदी पड़ती है। जिसे 'कर्मनासा नदी' के नाम से जाना जाता है। इस विषय में जैनेतर लोगों में यह धारणा है कि इस नदी के पार करते ही समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह धारणा कब और कैसे पनपी, यह शोध-खोज का विषय हो सकता है, परन्तु यदि गम्भीरता से चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि बिहार श्रमण परम्परा के केन्द्र रूप में विख्यात था और तीर्थंकरों के प्रभाव में जो भी व्यक्ति आता था, वह उनका भक्त हो जाता था। यह तो श्रमण परम्परा के तत्कालीन प्रभाव की प्रतीक रूप में संसूचना मात्र है।

तीर्थंकर महावीर के पूर्व 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकोत्तर प्रभाव था। उन्हीं के नाम से शाश्वत सम्मेद शिखर 'पार्श्वनाथ हिल' के नाम से
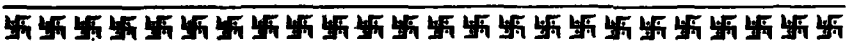
विश्रुत है। आज भी सम्पूर्ण भारत में उत्खनन से प्राप्त मूर्तियों में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं बहुतायत से मिलती हैं। भगवान पार्श्वनाथ संकटमोचक और विघ्नहर्ता के रूप में भी श्रावकों के आराध्य हैं। आराधना, स्तुति, भजन, कीर्तन तीर्थंकर के गुणानुवाद का एक सशक्त माध्यम है। '**गुणेषु अनुरागः भक्तिः**' गुणों के प्रति अनुराग ही भक्ति है और निष्काम भक्ति के माध्यम से ही निर्वृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। बोधि-समाधि निर्वाण के लिए और शुभोपयोग के लिए भक्ति ही एकमात्र सम्बल है।

छद्मस्थ श्रावक का उपयोग भी इस पूर्ण भक्ति में रमता है। विषय-कषायों की आत्यन्तिक निवृत्ति वीतरागत्भाव से होती है और उस वीतराग भाव की प्राप्ति के निमित्त तीर्थ-वन्दना और तीर्थ-भक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। आ० समन्तभद्र आदि प्रमुख आचार्यो ने भी भक्ति पूर्ण स्तुति के माध्यम से उपयोग में स्थिरता प्राप्त की थी। आ० समन्तभद्र और आ० मानतुंग की भक्ति से क्रमशः भस्म व्याधिरोग का शमन होना और तालों का टूटना सुविदित है। कविवर द्यानतराय जी ने सम्मेद शिखर की वन्दना और माहात्म्य को जिस बहुमान के साथ रेखांकित किया है, वह अनुकरणीय है। आज भी इस सिद्धक्षेत्र के प्रति जो अनुराग ''भक्ति और समर्पण की भावना है वह सिद्धभूमि से आत्मकल्याण की भावना को दृढ़ करने के लिए ही है। अधुनातन स्वर लहरियों में भजन, पूजन-कीर्तन आदि का प्रायः अभाव-सा था जिसकी पूर्ति का एक स्तुत्य प्रयास श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन) ने किया है। विश्वास है कि इस भक्ति पूर्ण संरचना से साधर्मी जन लाभ लेकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होंगे। इसी भावना से अनेकान्त का यह अंक सम्मेद शिखर अंक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

— सम्पादक

जैन संस्कृति की मूल धरोहर सम्मेद शिखर जी

शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर जी जैनियों का सर्वाधिक पूजनीय-वन्दनीय सिद्ध-क्षेत्र है। इस अनादि निधन तीर्थ क्षेत्र का अनुपम माहात्म्य है। प्रत्येक काल की चौबीसी के तीर्थंकरों ने शिखर जी से निर्वाण प्राप्त किया है, परन्तु काल-दोष के प्रभाव से वर्तमान चौबीसी के बीस तीर्थंकर ही यहां से मोक्ष गए हैं। शास्त्रों के अनुसार तीर्थंकरों के निर्वाण-स्थलों को इन्द्र ने अपने मेरुदण्ड से चिन्हित किया था, इसलिए उन्हीं स्थानों पर तीर्थंकरों के चरण-चिन्ह प्रतिष्ठित किये गये हैं, जो हमारी शाश्वत आस्था और संस्कृति के प्रतीक हैं। भावना यह है कि हम भी तीर्थंकरों के पद-चिन्हों पर चलकर अपना मुक्तिमार्ग प्रशस्त करें। जैन-दर्शन में निर्वाण प्राप्त करना अंतिम लक्ष्य माना गया है, इसीलिए हम अपने मंदिरों में तीर्थंकरों के जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा-उपासना करके आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। यदि इन तीर्थंकरों ने शिखरजी से मोक्ष प्राप्त न किया होता तो मंदिरों में उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। वस्तुतः सम्मेद शिखर हमारी संस्कृति का मूल आधार है।

जैन समाज का प्रत्येक व्यक्ति (महिला-बाल-वृद्ध) असीम श्रद्धा के वशीभूत आज भी शुद्ध भाव से नंगे पैरों 27 किलोमीटर पैदल चलकर शिखरजी की वन्दना को जीवन में प्राथमिकता देता है। अपनी इस पवित्र भावना की पूर्ति के निमित्त वन्दनार्थी जब गणधर टोंक पर पहुंचता है तो यात्रा की थकान को भूलकर, उसका मन वैराग्य भावना से परिपूर्ण होकर हर्ष-विभोर हो उठता है, कारण है, गुरु गणधर के प्रति वह कृतज्ञ भाव, जिससे जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों का बोध होता है और अज्ञान-अंधकार मिटता है। साक्षात उपकारी होने से ही सर्वप्रथम गणधर टोंक की वन्दना करके पर्वतराज के विभिन्न शिखरों पर स्थित तीर्थंकर टोंकों की वन्दना की जाती है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के जैनाचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने निर्वाणकाण्ड गाथा में श्री सम्मेद शिखर जी की वन्दना इन शब्दों में की है—
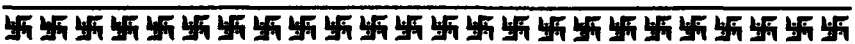
'बीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर वंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदेगिरि सिहरे णिव्वाण गया णमों तेसिं॥'

अर्थात : 'देव-दानवों से वंदित बीस जिनराजों ने अनादि कालीन दोषों को नष्ट कर सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया, उन सभी को मैं नमन करता हूं।'

कालांतर में भी श्री शिखरजी की गौरव-गाथा को अनेक श्रद्धावनत भक्ति-रसिक कवियों ने जीवन्त रखा। कविवर द्यानतराय जी की ये पंक्तियां प्रत्येक भक्त के कंठ से गुंजित होकर उनकी श्रद्धा को पुष्ट करती हैं :

'एक बार बन्दे जो कोई, ताहि नरक पशु गति नहीं होई'

तीर्थंकरों के अतिरिक्त सम्मेद शिखर से असंख्य मुनिराजों ने भी आत्म-ध्यान लगाकर निर्वाण प्राप्त किया है, इसलिए इस पर्वतराज का कण-कण पूजनीय है, वन्दनीय है। बीसवीं शताब्दी के महान संत पूज्य गणेश प्रसादजी वर्णी को तो यह स्थान इतना भाया कि वह अपने अंतिम समय तक शिखरजी के पादमूल ईसरी में स्थित होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अविराम चलते रहे।

समय बदलता है, आस्था नहीं बदलती। आज भी जैन समाज में शिखरजी के प्रति असीम श्रद्धा है और इसीलिए समाज में उसकी सुरक्षा व विकास के लिए तत्परता विद्यमान है। इसी भावना के अनुरूप शिखरजी-भक्ति के सरल भाषा में कुछ गीत, कीर्तन, आरती व पूजन लोक-गीतों की धुनों के माध्यम से प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है, ताकि समाज के सभी प्रबुद्ध वर्ग इन्हें आसानी से हृदयंगम करके लय-ताल के साथ गाकर शिखरजी के प्रति अपनी आस्था को अधिक प्रभावी बना सकें।

शिखरजी की यह गीतांजलि भक्तों के हृदय में तनिक भी धर्म-प्रभावना प्रवाहित कर सकी तो यह प्रयास सफल समझा जाएगा। आपके सुझाव सदैव मेरा मार्गदर्शन करने में सहायक होंगे।

—सुभाष जैन

वन्दना गीत श्री सम्मेद शिखरजी

पूज्य शिखर सम्मेद हमारा। सब मिल कर बोलें जयकारा॥
यह अनादि से तीर्थ इसी पर। न्योछावर तन-मन-धन सारा॥
पूज्य शिखर सम्मेद हमारा। सब मिल कर बोलें जयकारा॥

बीस श्रमणपथ के तीर्थंकर। मुक्त हुए हैं इस पर्वत पर॥
अगणित मुनिगण तप धारण कर। सिद्ध हुए सब कर्म खपा कर॥
पाप मिटे दर्शन से सारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 1

जो यात्री वन्दन को जाते। असुर भीतरी दूर भगाते॥
उनके सब संकट कट जाते। वे सब मनवांछित फल पाते॥
तिर्यंच गति न मिले दुबारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 2

नंगे पैरों, शुद्ध भाव से। वन्दन करते सभी चाव से॥
गणधर टोंक करो आराधन। जिनवाणी जी के प्रभाव से॥
मोक्ष-मार्ग का खुलता द्वारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 3

भव्य-जीव ही दर्शन करते। चरणों का प्रक्षालन करते॥
चलते सिद्धों के चिन्हों पर। पूजन करते अर्चन करते॥
जन्म मरण से हो छुटकारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 4

स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ायें। निज-पर की पहचान बनायें॥
करें तपस्या कर्म नशायें। निश्चित ही जिनवर पद पायें॥
पाप मिटें, मन हो उजियारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 5

आओ! मिलकर जायें सब जन। करें समेद शिखर के दर्शन॥
भक्तिभाव से ध्यान लगायें। पद-चिन्हों का करके वन्दन॥
'सुभाष शकुन' का हो निस्तारा। पूज्य शिखर सम्मेद हमारा॥ - 6
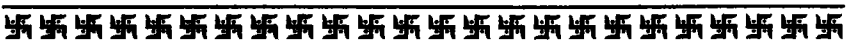
श्री सम्मेद शिखरजी पूजन

शाश्वत है परिवर्तित जग में तीर्थराज सम्मेद शिखर
मुक्त हुए प्रत्येक काल की चौबीसी के तीर्थंकर 1
काल-दोष से वर्तमान में मोक्ष गए विंशति जिनवर
इन्द्रदेव ने मेरुदण्ड से चिन्ह रचे मोक्ष-स्थल पर 2
पद-चिन्हों पर टोंक बनी हैं ऊंचे-ऊंचे शिखरों पर
जय-जय कारों से अनुगुंजित है यह धरती यह अम्बर 3
अगणित मुनियों ने पर्वत से सिद्ध पद पाया तप धर कर
इसी लिए पूरे पर्वत का पावन है कण-कण पत्थर 4
वैराग्य भावना जागृत होती इस तीरथ का दर्शन कर
पद-चिन्हों से प्रेरित होकर बढ़ जायें मुक्ति पथ पर 5
मोक्ष गए उन सिद्धों का अह्वान करें हम सुमरन कर
सिद्ध परमेष्ठी के गुण गाकर पूज रचाऊं पर्वत पर 6

ओं ह्रीं शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर अत्र अवतर अवतर संबौषट्। ओं ह्रीं शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर अत्र तिष्ठ ठः ठः। ओं ह्रीं शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

मन का मैल मिटाने को नश्वर तन धोता आया हूं।
मन की कालुष मिटी न फिर भी, सोच सोच पछताया हूं॥
निर्मल जल का कलश लिये सम्मेद शिखर पर आया हूं!
मिथ्या मैल धुले मेरा, मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय जन्मजरा मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा-1

तन मन शीतल रखने को मैं चन्दन खूब लगाता हूं।
ताप कषाय नहीं मिट पाता, सोच-सोच पछताता हूं॥
केशर मिश्रित चन्दन ले सम्मेद शिखर पर आया हूं।
मन्द कषाय हो जायं मेरी मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥
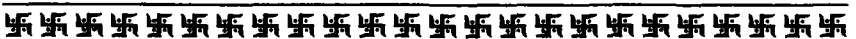
ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय भव आताप विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा-2

हैं चौरासी लाख योनियाँ, लौट-लौट कर आया हूं।
कर्म-चक्र में फंसा रहा हूं, कलपा हूं, पछताया हूं॥
श्वेत वरण के चुन अक्षत सम्मेद शिखर पर लाया हूं।
कर्म-बंध से छुट जाऊं अक्षय पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय अक्षय पद प्राप्ताय अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा-3

काया के कल्पित करने को सुमन सुगंधित लाता हूं।
काम-वेदना मिट नहिं पाती, सोच-सोच पछताता हूं॥
पारिजात के पुष्प चुने, सम्मेद शिखर पर लाया हूं।
विषय-वासना नस जाये, मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय काम-बाण विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा-4

नश्वर देह की पुष्टि को नित षट्रस व्यंजन खाता हूं।
उदर पूर्ति हो नहिं पाती, सोच-सोच पछताता हूं॥
सदनेवज पकवान लिए सम्मेद शिखर पर आया हूं।
क्षुधा रोग मिट जाय मेरा मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय क्षुधा रोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा-5

सम्यक् ज्ञान मार्ग पाने को दीप जलाता आया हूं।
मन का तिमिर नहीं मिट पाया, सोच-सोच पछताया हूं॥
रत्न जड़ित घृत दीपक ले सम्मेद शिखर पर आया हूं।
नश जाये अज्ञान-तिमिर, मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥
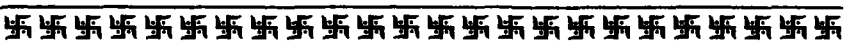
ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय मोह अंधकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा-6

कर्म-चक्र से बचने को अग्नी में धूप जलाता हूं।
राग-द्वेष मिट सका नहीं, यह सोच-सोच पछताता हूं॥
अगर-तगर की धूप सुगंधित भक्ति-भाव से लाया हूं।
आठों कर्म दहन हो जाएं, सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय अष्ट कर्म दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा-7

सांसारिक फल-रस चखने को, बार-बार ललचाया हूं।
आत्म रस चख सका नहीं, मैं सोच-सोच पछताया हूं॥
भांति-भांति के उत्तम फल सम्मेद शिखर पर लाया हूं।
निज स्वभाव में आ जाऊं मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय मोक्ष फल प्राप्ताय फलं निर्वपामीति स्वाहा-8

कर्म-शक्ति क्षय करने को मैं अर्घ चढ़ाता आया हूं।
निज गुण मैं पहचान न पाया, सोच-सोच पछताया हूं॥
अष्ट द्रव्य का अर्घ संजो सम्मेद शिखर पर आया हूं।
रत्नत्रय निधी मिल जाए, मैं सिद्ध पद पाने आया हूं॥

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय अनर्घ्य पद प्राप्ताय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा-9

पूज्य शिखर सम्मेद पर, पूजूं मैं पद-छाप।
मिट जायें इस जन्म में, जनम-जनम के पाप॥

क्रम से कूटों पर सभी, करूँ वंदना जाप।
जग के बंधन तोड़कर, दूर करूँ संताप॥

(पुष्पाञ्जलिक्षिपेत्)
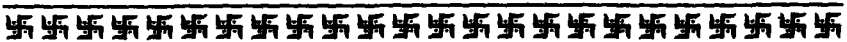
वन्दना मार्ग पर स्थित टोंकों की क्रमवार अर्घावलि

गणधर टोंक-1

जिनवाणी की व्याख्या करके जीवों का उपकार किया।
इसीलिए श्री गणधर जी का सबने जय जय कार किया॥
जिनराजों की टोंक से पहले वन्दन है श्री गणधर का।
जिनके तेजस्वी प्रकाश से तिमिर मिटे जीवन भर का॥

ओं ह्रीं जिनवाणी के व्याख्याता श्री गणधर जी महाराज के पद-चिन्हों को बारम्बार नमस्कार अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

ज्ञानधर कूट-2

'ज्ञान' कूट पर सिद्ध पद पाया 'कुन्थुनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं ज्ञानधर कूट से श्री कुंथुनाथ जिनेन्द्रादि छियानवे कोड़ा कोड़ी छियानवे करोड़ बत्तीस लाख छियानवे हजार सात सौ बियालीस मुनि सिद्ध हुए तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

मित्रधर कूट-3

'मित्र' कूट पर सिद्ध पद पाया 'नमीनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं मित्रधर कूट से श्री नमिनाथ जिनेन्द्रादि नौ सौ कोड़ा कोड़ी एक अरब पैंतालीस लाख सात हजार नौ सौ बियालीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

नाटक कूट-4

'नाटक' कूट पे सिद्ध पद पाया 'अरहनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं नाटक कूट से श्री अरहनाथ जिनेन्द्रादि निन्यानवे करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

संबल कूट-5

'संबल' कूट पे सिद्ध पद पाया 'मल्लिनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं संबल कूट से श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्रादि छियानवे करोड़ मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

संकुल कूट-6

'संकुल' कूट पे सिद्ध पद पाया 'श्रेयांस' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं संकुल कूट से श्रेयांसनाथ जिनेन्द्रादि छियानवे कोड़ा कोड़ी छियानवे करोड़ छियानवे लाख नौ हजार पांच सौ बियालीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

सुप्रभ कूट-7

'सुप्रभ' कूट पर सिद्ध पद पाया 'पुष्पदंत' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं सुप्रभ कूट से श्री पुष्पदंत जिनेन्द्रादि एक कोड़ा कोड़ी निन्यानवे लाख सात हजार चार सौ अस्सी मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

मोहन कूट–8

'मोहन' कूट पे सिद्ध पद पाया 'पद्मप्रभु' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं मोहन कूट से श्री पद्मप्रभु जिनेन्द्रादि निन्यानवे करोड़ सतासी लाख तैंतालीस हजार सात सौ सत्ताईस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

निरजर कूट–9

'निरजर' कूट पे सिद्ध पद पाया 'मुनिसुव्रत' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं निरजर कूट से श्री मुनिसुव्रत नाथ जिनेन्द्रादि निन्यानवे कोड़ा कोड़ी सतानवे करोड़ नौ लाख नौ सौ निन्यानवे मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

ललित कूट–10

'ललित' कूट पर सिद्ध पद पाया 'चन्द्रप्रभु' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं ललित कूट से श्री चन्द्रप्रभु जिनेन्द्रादि नौ सौ चौरासी अरब बहात्तर करोड़ अस्सी लाख चौरासी हजार पांच सौ पचानवे मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

श्री आदिनाथ भगवान का वन्दन-11

मोक्ष गए सम्मेद शिखर पर काल-दोष से बीस जिनेश।
कुन्द कुन्द स्वामी करते हैं बीसों को ही नमन विशेष॥
आदिनाथ तीर्थंकर का है मुक्ति धाम कैलाश शिखर।
कर उनका गुणगान, चढ़ाऊँ अर्घ्य उन्हीं का सुमरन कर॥

ओं ह्रीं कैलाश पर्वत से श्री आदिनाथ जिनेन्द्रादि दस हजार मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

विद्युतवर कूट-12

'विद्युतवर' से सिद्ध पद पाया 'शीतलजी' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं विद्युतवर कूट से श्री शीतलनाथ जिनेन्द्रादि अठारह कोड़ा कोड़ी बियालीस करोड़ बत्तीस लाख बियालीस हजार नौ सौ पांच मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

स्वयंभू कूट-13

'स्वयंभू' कूट पे सिद्ध पद पाया 'अनन्तनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं स्वयंभू कूट से श्री अनन्तनाथ जिनेन्द्रादि छियानवे कोड़ा कोड़ी सत्तर करोड़ सत्तर लाख सत्तर हजार सात सौ मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

धवल कूट-14

धवल' कूट पर सिद्ध पद पाया 'संभव जी' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं धवल कूट से श्री सभंव नाथ जिनेन्द्रादि नौ कोड़ा कोड़ी बहत्तर लाख बियालीस हजार पांच सौ मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

श्री वासुपूज्य भगवान का वन्दन-15

मोक्ष गए सम्मेद शिखर पर काल-दोष से बीस जिनेश।
कुन्द कुन्द स्वामी करते हैं बीसों को ही नमन विशेष॥
वासुपूज्य तीर्थंकर का है मुक्ति धाम मंदार शिखर।
कर उनका गुणगान, चढ़ाऊँ अर्घ्य उन्हीं का सुमरन कर॥

ओं ह्रीं चम्पापुरी के मंदार गिरि से श्री वासुपूज्य जिनेन्द्रादि एक हजार मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

आनन्द कूट-16

'आनन्द' कूट पे सिद्ध पद पाया 'अभिनन्दन' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं आनन्द कूट से श्री अभिनन्दन जिनेन्द्रादि बहत्तर कोड़ा कोड़ी सत्तर लाख बियालीस हजार सात सौ मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।
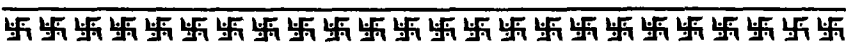
सुदत्त कूट–17

'सुदत्त' कूट पर सिद्ध पद पाया 'धर्मनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं सुदत्त कूट से श्री धर्मनाथ जिनेन्द्रादि उनतीस कोड़ा कोड़ी उन्नीस करोड़ नौ लाख नौ हजार सात सौ पचानवे मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अविचल कूट–18

'अविचल' कूट पे सिद्ध पद पाया 'सुमतिनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं अविचल कूट से श्री सुमतिनाथ जिनेन्द्रादि एक कोड़ा कोड़ी चौरासी करोड़ बहत्तर लाख इक्यासी हजार सात सौ इक्यासी मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

(कुंदप्रभु) शांतिनाथ कूट–19

'शांति' कूट पर सिद्ध पद पाया 'शांतिनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं शांतिनाथ कूट से श्री शांतिनाथ जिनेन्द्रादि नौ कोड़ा कोड़ी नौ लाख नौ हजार नौ सौ निन्यानवे मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।
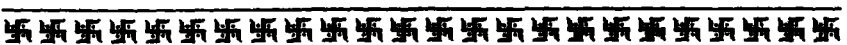
श्री भगवान महावीर का वन्दन-20

मोक्ष गए सम्मेद शिखर पर काल-दोष से बीस जिनेश।
कुन्द कुन्द स्वामी करते हैं बीसों को ही नमन विशेष॥
महावीर तीर्थंकर का है मुक्ति धाम पावा सरवर।
कर उनका गुणगान, चढ़ाऊँ अर्घ्य उन्हीं का सुमरन कर॥

ओं ह्रीं पावापुरी पद्म सरोवर से श्री महावीर जिनेन्द्रादि छब्बीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

प्रभास कूट-21

'प्रभास' कूट पे सिद्ध पद पाया 'सुपार्श्वनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं प्रभास कूट से श्री सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्रादि उन्चास कोड़ा कोड़ी चौरासी करोड़ बहत्तर लाख सात हजार सात सौ बियालीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

सुवीर कूट (सकुल कूट) -22

'सुवीर' कूट पे सिद्ध पद पाया 'विमलनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं सुवीर कूट से श्री विमलनाथ जिनेन्द्रादि सत्तर कोड़ा कोड़ी साठ लाख छः हजार सात सौ बियालीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।
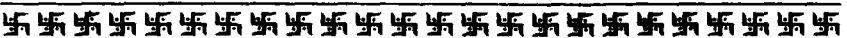
सिद्धवर कूट–23

'सिद्ध' कूट से सिद्ध पद पाया 'अजितनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं सिद्धवर कूट से श्री अजितनाथ जिनेन्द्रादि एक अरब अस्सी करोड़ चौव्वन लाख मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

श्री नेमिनाथ भगवान का वन्दन–24

मोक्ष गए सम्मेद शिखर पर काल-दोष से बीस जिनेश।
कुन्द कुन्द स्वामी करते हैं बीसों को ही नमन विशेष॥
नेमिनाथ तीर्थंकर का है मुक्ति धाम गिरनार शिखर।
कर उनका गुणगान चढ़ाऊँ अर्घ्य उन्हीं का सुमरन कर॥

ओं ह्रीं गिरनार पर्वत से श्री नेमिनाथ जिनेन्द्रादि बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

स्वर्णभद्र कूट–25

'स्वर्ण' कूट पर सिद्ध पद पाया 'पार्श्वनाथ' तीर्थंकर ने।
इन्द्र-देवगण सब मिल पहुंचे जिनवर की पूजा करने॥
इसी कूट से मुनिराजों ने सिद्ध पद पाया तप धर कर।
पद-चिन्हों पर अर्घ चढ़ाऊं जाकर श्री सम्मेद शिखर॥

ओं ह्रीं स्वर्णभद्र कूट से श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्रादि बियासी करोड़ चौरासी लाख पैंतालीस हजार सात सौ बियालीस मुनि सिद्ध भये तिनके चरणों में मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

आते जिसके द्वार पर करने कर्म विछेद।
यह अनादि से पूज्य है, तीर्थ शिखर सम्मेद॥

ओं ह्रीं शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त सभी सिद्धों को मन-वचन-काय से वन्दन अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाल

सुरगण रजकण पूजते, है यह शिखर विशाल।
शुद्ध मन, वचतन, भाव से, अब गाऊं जयमाल॥

जय सम्मेद शिखर की जय हो।
दुखहारी गिरिवर की जय हो॥ -1

ऐसी शांति कहां है जग में। ना धरती पर नाहिं सुरग में॥
दिशि-दिशि गूँजें भजनावलियाँ। खिल जायें अन्तर की कलियाँ॥
खुल जायें सब चक्षु ज्ञान के। जिनवाणी का तथ्य जान के॥
जिनवाणी जिसने दुहराई। मर्म बताया, कही सचाई॥

ऐसे गुरु गणधर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-2

यह अनादि से मोक्ष-द्वार है। इस पर्वत को नमस्कार है॥
काटे जन्म-मरण के बंधन। तन के बंधन, मन के बंधन॥
इन शिखरों से सब तीर्थंकर। महाव्रती तपलीन मुनीश्वर॥
मुक्ति-मार्ग पर हुए अग्रसर। सिद्ध हुए वे कर्म खपा कर॥

तीर्थंकर-मुनिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-3

इस शाश्वत सम्मेद शिखर पर। स्वर्गलोक का वैभव तज कर॥
नित-नित देव-समूह उतरता। जिनके मुख से अमृत झरता॥
प्राप्त उन्हें सब सुख के साधन। फिर भी करते जिन-आराधन॥
सब टोकों पर करके पूजन। धन्य-धन्य हो जाते सुरगण॥

पूजा के हर स्वर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-4

सिद्ध-पदों के सुर अभिलाषी। जिनकी चिर आकांक्षा प्यासी॥
अपनी ही तृष्णा से दुर्बल। तप-संयम-पालन में असफल॥

मद में सद्‌गति के अनुगामी। वैभव में काया के कामी॥
नर समान व्रत पालें कैसे। महाव्रती मुनिराजों जैसे॥

व्रतधारी मुनिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-5

यह सौभाग्य मात्र मानव का। व्रत से संकट काटे भव का॥
पर, मानव विमूढ़ अज्ञानी। सांसारिक काषायिक प्राणी॥
इच्छाओं का दास बना-सा। कुआं पी गया, फिर भी प्यासा॥
आओ, तृप्त स्वयं को करने। ढूँढें यहाँ ज्ञान के झरने॥

आती धर्म-लहर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-6

भव चौरासी लाख भुवन में। जन्म-मरण के इस बंधन में॥
पशु-गति के दारुण दुख प्रतिक्षण। गाय-बैल या हिरण आदि बन॥
दुखद आपदाओं को भोगा। कब तक यों ही चलना होगा॥
तीरथ-द्वार मुक्ति का द्वारा। जीव-जगत् से हो निस्तारा॥

जैन-धर्म परिकर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-7

आगत-विगत नरक गति चारी। सहने को दारुण दुख भारी॥
खेल-कूद में खोया बचपन। काम-रोग में बीता यौवन॥
बची-खुची बूढ़ी काया में। उलझा रहा मोह माया में॥
चेत सके तो चेत कर्म से। अपनी जून सुधार धर्म से॥

बोल कि तीर्थंकर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो।जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-8

यह जयमाल विनम्र निवेदन। यह जयमाल नमन-अभिनंदन॥
यह जयमाल गुणों का गायन। गाऊँ यह जयमाल मुदित मन॥
जय सम्मेद शिखर जय गिरिवर। इसकी रज को मस्तक पर धर॥
सिद्धों के चिन्हों पर चलकर। मुक्त हुए जहँ अगणित मुनिवर॥
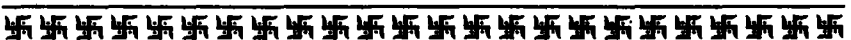
उस कण-कण प्रस्तर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-9

काल-दोष से वर्तमान में । आत्मलीन कैवल्य ज्ञान में॥
चौबीसी के बीस जिनेश्वर। मुक्त हुए हैं इस पर्वत पर॥
इन्द्र देव ने स्वयं उतर कर। चिन्ह रचाये मोक्ष-स्थल पर॥
चरण-चिन्ह जिनके अंकित हैं। शिखरों पर टोकें निर्मित हैं॥

इस धरती-अंबर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-10

कितने पाप मनुज करता है। पगला जीवन भर मरता है॥
कर्म-बंध से कातरता है। दुख सम्मेद शिखर हरता है॥
भक्ति-भाव से इस तीरथ पर। त्याग-तपस्या के मुनि-पथ पर॥
जो आते हैं, तर जाते हैं। जीवन सार्थक कर जाते हैं॥

ऐसी मुक्ति-डगर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-11

जो यात्री वंदन को आते। मुक्ति हेतु प्रेरित हो जाते॥
प्रक्षालन कर पद-छापों का। दोष नसाते निज पापों का॥
वीतराग का ध्यान धरे जो। जैन-धर्म का मनन करे जो॥
ऐसे जैन प्रवर की जय हो। ऐसे हर अंतर की जय हो॥

जय ऐसे सहचर की जय हो। जय सम्मेद शिखर की जय हो॥
दुखहारी गिरिवर की जय हो।जय सम्मेद शिखर की जय हो॥-12

ओं ह्रीं सिद्धक्षेत्रोभ्यो नमः शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखराय जयमाला पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

गाथा शिखर सम्मेद की, जो भी मन से गाय।
मुक्ति मिले उस जीव को, भवबंधन कट जाय॥

(पुष्पाञ्जलिक्षिपेत्)

श्री सम्मेद शिखर की आरती

आरती श्री सम्मेद शिखर की। विघ्न विनाशी श्री गिरवर की॥

मुक्त हुए जो उन सिद्धों के, पद चिन्हों की, तीर्थंकर की
अगणित मुनिराजों के तप की, जैन धर्म की, धर्म-प्रवर की
करें आरती श्री गणधर की, वाणी समझाई जिनवर की - **आरती श्री...**

ज्ञान कूट पर कुंथु नाथ की, मित्र कूट पर नमीनाथ की
नाट्य कूट पर अरहनाथ की, संवल कूट पर मल्लिनाथ की
पूजें संकुल कूट जहां से, मुक्ति हुई श्रेयाँस प्रवर की - **आरती श्री...**

सुप्रभ कूट पर पुष्पदंत जी, मोहन कूट पद्मप्रभु वंदित
निर्जर कूट पुजें मुनिसुव्रत, ललित कूट चन्दा प्रभु पूजित
विद्युत कूट तपस्थलि पावन, श्री शीतल जी तीर्थंकर की - **आरती श्री...**

स्वयंभू कूट पर अनंत नाथ जी, धवल कूट श्री संभव वन्दन
धर्मनाथ जी कूट सुदत्ता, आनन्द कूट पुजें अभिनन्दन
अविचल कूट पर सुमतिनाथ की, मोक्ष गए प्रभु सिद्धेश्वर की - **आरती श्री...**

शान्ति कूट पर शान्तिनाथ की, कूट प्रभाष सुपार्श्वनाथ की
कूट सुवीर विमल की आरति, सिद्ध कूट पर अजित नाथ की
स्वर्ण कूट पर पार्श्वनाथ की, पर्वत के कण-कण पत्थर की - **आरती श्री...**

श्री जिनवर के पद-चिन्हों पर, नमन करें हम शीश झुकाकर
सब पूजित कूटों पर जाकर, जिनवाणी में ध्यान लगाकर
दिव्य दीप से आरति करते, अंधकार में सूर्य प्रखर की - **आरती श्री...**

जो यह आरति करें करावें, निज जीवन में संयम लावें
वे सब मन-वांछित फल पावें, उनके भव-बंधन कट जावें
अंत समय मुक्ती पद पावें, साध हो पूरी जीवन भर की - **आरती श्री...**
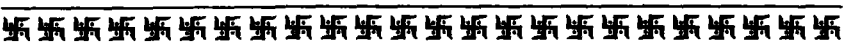
कीर्तन सम्मेद शिखर जी

सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की
मस्तक झुकाके जय कहो सम्मेद शिखर जी की

कर्मों का नाश होता है वन्दन से तीर्थ के
पूजा सदा करते रहो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...

ज्ञानी बनो, दानी बनो, बलवान भी बनो
भक्ति करो और जय कहो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...

होकर स्वतंत्र क्षेत्र की रक्षा सदा करो
निर्भय बनो और जय कहो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...

जिन-धर्म ने दिखा दिया है लक्ष्य मुक्ति का
हर टोंक का वन्दन करो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...

तज कर कषाय दश धर्म का पालन सदा करो
संयम धरो और जय कहो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...

जिनराज के पद-छाप का अनुसरन सदा करो
मिलकर अमर कथा कहो सम्मेद शिखर जी की
सब मिलके आज जय कहो सम्मेद शिखर जी की। मस्तक...
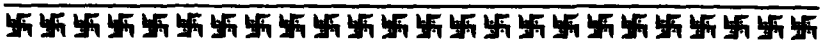
सांवलिया स्वामी

सांवलिया स्वामी, सांवलिया स्वामी
अब मोहे तारो जी, अब मोहे तारो –सांवलिया स्वामी
साँवली सूरत मोहनी मूरत
तीन लोक के अंतरयामी
अब मोहे तारो जी, अब मोहे तारो –सांवलिया स्वामी
नगर बनारस में जन्मे तुम
और हुए थे अवधी ज्ञानी
धुनी लीन तापस से रक्षित
करके नाग युगल दो प्राणी ....**अब मोहे**
राज त्याग कर दीक्षा लीनी
बन में तप करने की ठानी
कमठ जीव के उपसर्गो से
डिगे नहीं तुम आत्म ध्यानी ....**अब मोहे**
केवल ज्ञान प्रगट होने पर
गणधर ने वाणी पहिचानी
सब जीवों को मोक्ष मार्ग की
राह दिखाई जग-कल्याणी ....**अब मोहे**
आठों कर्म नसाकर अपने
सिद्ध हुए तुम अंतरयामी
पद अंकित सम्मेद शिखर पर
पूजा-पाठ करें सब प्राणी ....**अब मोहे**
भव-बंधन की बाधाओं से
व्याकुल हैं सांसारिक प्राणी
श्रद्धा भाव निवेदन मेरा
पार करो, मैं हूँ अज्ञानी ....**अब मोहे**

तीर्थ हमारा

ऊंचे ऊंचे शिखरो वाला है ये तीर्थ हमारा
तीरथ हमारा प्राणों से प्यारा
ऊंचे ऊंचे शिखरों वाला है ये तीर्थ हमारा
पर्वत ऊपर बरसे रे अमृत की धारा
ऊंचे ऊंचे शिखरों वाला है ये तीर्थ हमारा

जिनराजों के पद चिन्हों पर
भक्ति-भाव से शीश झुकाकर
निर्मल होती जाती है पंकिल जीवन की धारा - **ऊंचे ऊंचे ......**

अगणित मुनिगण ध्यान लगाकर
सिद्ध हुए सब कर्म नसा कर
पूजन-वन्दन से खुल जाता है मुक्ति-मार्ग का द्वारा - **ऊंचे ऊंचे ......**

तीर्थकर के उपदेशों को
गणधर ने समझाया सबको
जिनवाणी में धर्म-कर्म का मर्म छिपा है सारा - **ऊंचे ऊंचे ......**

जो यात्री दर्शन करते हैं
उनके सब संकट कटते हैं
सहज भाव से हो जाता है जीवन का निस्तारा - **ऊंचे ऊंचे ......**

इस सम्मेद शिखर पर आकर
सब टोंकों पर धोक लगाकर
जन्म-मरण के भव-बंधन से मिलता है छुटकारा - **ऊंचे ऊंचे ......**

साँवलिया लोक गीत

साँवलिया पारसनाथ शिखर पर भला विराजा जी
भला विराजा जी भला विराजा जी,
साँवलिया पारसनाथ शिखर पर भला विराजा जी
स्वर्ण कूट पर ध्वज लहराये झांझर घंटा बाजा जी - ***साँवलिया...***

'वामा माता' ने सपनों का नृप से अर्थ कराया जी
तीर्थकर जीव गर्भ में आया 'अश्वसेन' हर्षाया जी - **साँवलिया ...**

काशी नगरी में जन्में तुम, इन्द्रों ने न्हवन कराया जी
तापस के जलते अलाव से, जोड़ा नाग बचाया जी - **साँवलिया ...**

बन में जाकर दीक्षा लीनी, आतम ध्यान लगाया जी
कमठ जीव की बाधाओं ने किंचित नहीं डिगाया जी - **साँवलिया ...**

केवल ज्ञानी जान सुरों ने समोसरन रचाया जी
गणधर ने वाणी समझाकर सच्चा मार्ग दिखाया जी - **साँवलिया ...**

पहुंच शिखरजी स्वर्ण कूट पर ऐसा ध्यान लगाया जी
आठों कर्म नसाकर तुमने सिद्धों का पद पाया जी - **साँवलिया ...**

दूर-देश का यात्री इस सम्मेद शिखर पर आया जी
चरणों का प्रक्षालन करके मन का मैल मिटाया जी - **साँवलिया ...**

अष्ट द्रव्य से पूजा करके मन-वांछित फल पाया जी
भक्ति-भाव से ध्यान लगाकर सारा पाप नसाया जी - **साँवलिया ...**

सब सुख छोड़ 'शकुन' का मन तो दर्शन को ललचाया जी
पद-चिन्हों का वन्दन करके मुक्ती का पथ पाया जी - **साँवलिया ...**

चलो रे भई शिवपुर को

गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को

इस गाड़ी के सारे डिब्बे एक हि इन्जन खींचे
सभी इन्द्रियां चलती हैं इस मन के पीछे पीछे
मन के मिटाके विकार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को -1

लालच, क्रोध, मान, माया का जब हो जाय अंत
क्षमा भाव धारण करने पर बन जाता है संत
संयम को बनाके आधार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को-2

सारे पापों का संचालक है परिग्रह का यंत्र
जियो और जीने दो सब को यही अहिंसा मंत्र
हिंसा का तज के विचार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को-3

श्री जिनवर के गंधोदक से धुल जाते हैं पाप
पूजन-अर्चन आरति करके मिटें सभी संताप
जिनवाणी को मन में धार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को-4

धीरे धीरे व्रत पालन से आतम् सुख मिलता है
नियमित स्वाध्याय करने पर तत्त्व-ज्ञान बढ़ता है
हौले हौले बढ़ेगी रफ़्तार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को-5

निज पर की पहिचान बनाकर बनते आत्म ध्यानी
करो तपस्या, कर्म नशाओ, कहती है जिनवाणी
खुले हैं शिखरजी के द्वार, चलो रे भई शिवपुर को
गाड़ी खड़ी रे खड़ी है तैयार, चलो रे भई शिवपुर को-6
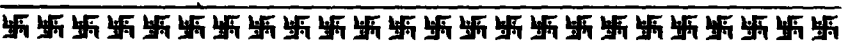
श्री सम्मेद शिखर-महान सिद्धक्षेत्र

— पं. बलभद्र जैन

श्री सम्मेद शिखर सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्रों में सर्वप्रमुख तीर्थक्षेत्र है। इसीलिए इसे तीर्थराज कहा जाता है। इसकी भाव सहित वन्दना यात्रा करने से कोटि-कोटि जन्मों से संचित कर्मों का नाश हो जाता है। निर्वाण क्षेत्र-पूजा में कविवर द्यानतरायजी ने सत्य ही लिखा है-"**एक बार बन्दै जो कोई। ताहि नरक-पशुगति नहिं कोई॥**" एक बार वन्दना करने का फल नरक और पशुगति से ही छुटकारा नहीं है, अपितु परम्परा से पंसार से भी छुटकारा है। किन्तु यह वन्दना द्रव्य-वन्दना या क्षेत्र-वन्दना नहीं, भाव-वन्दना होनी चाहिए।

ऐसी अनुश्रुति है कि श्री सम्मेद शिखर और अयोध्या ये दो तीर्थ अनादि-निधन शाश्वत हैं। अयोध्या में सभी तीर्थंकरों का जन्म होता है और सम्मेद शिखर में सभी तीर्थंकरों कर निर्वाण होता है। किन्तु हुण्डावसर्पिणी के काल-दोष से इस शाश्वत नियम में व्यतिक्रम हो गया। अत: अयोध्या में केवल पांच तीर्थंकरों का ही जन्म हुआ और सम्मेद शिखर से केवल बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण-लाभ किया। किन्तु इनके अतिरिक्त असंख्य मुनियों ने भी यहीं पर तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त की। सम्मेद शिखर की भाव-वन्दना से तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र से जो तीर्थंकर और अन्य मुनिवर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उनके गुणों को सच्चाई के साथ अपने हृदय में उतारें और तदनुसार अपनी आत्मा के गुणों का विकास करें। ऐसा करने से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ढाई द्वीप में कुल 170 सम्मेद शिखर होते हैं। उनमें जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का सम्मेद शिखर वही है जो पारसनाथ हिल के नाम से विख्यात है। ईसा की प्रथम शताब्दी में आ. कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्राकृत निर्वाण काण्ड में सम्मेद शिखर से बीस तीर्थकरों की निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है।

प्रसिद्ध आर्ष ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' (4-1186-1206) में तो आचार्य यतिवृषभ ने बीस तीर्थकरों द्वारा सम्मेद शिखर पर्वत से मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। उसमें उन्होंने प्रत्येक तीर्थकर की निर्वाण-प्राप्ति की तिथि, नक्षत्र और उनके साथ मुक्त होने वाले मुनियों की संख्या भी दी है।

इसी प्रकार आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तर पुराण' में, आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में, आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में तथा अन्य अनेक शास्त्रों में सम्मेद शिखर को बीस तीर्थंकरों और असंख्य मुनियों की निर्वाण-भूमि बताया है। 'मंगलाष्टक' में भी चार तीर्थंकरों की निर्वाण-भूमियों का उल्लेख करके शेष बीस तीर्थंकरों की निर्वाण-भूमि के रूप में सम्मेद शैल को मंगलकारी माना है। जटासिंह नन्दी ने 'वरांगचरित्र' में लिखा है-

''शेषा जिनेन्द्रास्तपसः प्रभावाद् विधूय कर्माणि पुरातनानि।
धीराः परां निर्वृतिमभ्युपेताः सम्मेदशैलोपवनान्तरेषु॥27-92॥

संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के कवियों ने भी सम्मेद शिखर को बीस तीर्थंकरों एवं अनेक मुनियों की सिद्ध भूमि माना है।

मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि गुणकीर्ति (अनुमानतः 15वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) अपने गद्य ग्रन्थ 'धर्मामृत' (परिच्छेद 167) में लिखते हैं-

''सम्मेद महागिरि पर्वति बीस तीर्थंकर अहूठ कोडि मुनिस्वरु सिद्धि पावले त्या सिद्ध क्षेत्रासिं नमस्कारु माझा।''

अपभ्रंश भाषा के कवि उदयकीर्ति (12-13वीं शताब्दी) ने 'तीर्थ वन्दना' नामक अपनी लघु रचना में सम्मेद शिखर के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख किया है-

'सम्मेद महागिरि सिद्ध जे वि। हउँ बंदउँ बीस जिणंद ते वि।'

गुजराती भाषा के कवि मेघराज (समय 16वीं शताब्दी) ने विभिन्न तीर्थों की वन्दना के प्रसंग में सम्मेद शिखर की वन्दना में लिम्नलिखित पद्य बनाया है-

चलि जिनवर जे बीस सिद्ध हवा स्वामी संमेद गिरीए।
सुरनर करे तिहा जात्र पूज रचे बड़भाव धरीए॥

भट्टारक अभयनन्दि (सूरत) के शिष्य सुमतिसागर (समय 16वीं शताब्दी के मध्य में) ने 'तीर्थजयमाला' में लिखा है-

''सुसंमेदाचल पूजो संत। सुबीस जिनेश्वर मुक्ति वसंत॥

नन्दीतटगच्छ, काष्ठासंघ के भट्टारक श्री भूषण के शिष्य ज्ञानसागर (समय 1578-1620) ने गुजराती में 'सर्वतीर्थ-वन्दना' लिखी है। इसमें कुल 101
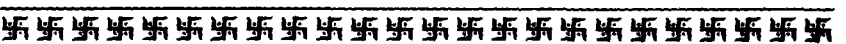
छप्पय हैं। इनमें तीन छप्पय में सम्मेद गिरि की वन्दना और प्रशंसा अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में की है। बीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त अनेक मुनिजन यहां तपस्या करके और कर्मों का नाश करके मुक्ति पधारे हैं। ऐसे कुछ मुनियों का वर्णन पुराण और कथा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

'उत्तरपुराण' (48-129-137) में सगर चक्रवर्ती का प्रेरक जीवन-चरित्र दिया गया है। जब मणिकेतु देव ने अपने पूर्वभव की मित्रता को ध्यान में रखकर सगर चक्रवर्ती को आत्म-कल्याण की प्रेरणा देने के लिए उसके साठ हजार पुत्रों के अकाल मरण का शोक समाचार सुनाया तो चक्रवर्ती को सुनते ही संसार से वैराग्य हो गया और भगीरथ को राज्य देकर उसने मुनि-दीक्षा ले ली। उधर देव ने उन साठ हजार पुत्रों को उनके पिता द्वारा मुनि-दीक्षा लेने का समाचार जा सुनाया। उस समाचार को सुनकर उन सबने भी मुनि व्रत धारण कर लिया और तपस्या करने लगे। अन्त में सम्मेद शिखर से उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।

सम्मेद शिखर पर मन्दिरों के निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भट्टारक ज्ञानकीर्ति ने 'यशोधर चरित' की रचना संवत् 1659 में की थी। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में राजा मानसिंह के मन्त्री नानू का नामोल्लेख करते हुए सम्मेद शिखर पर बीस मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। चम्पा नगरी के निकटवर्ती अकबरपुर गांव में महाराज मानसिंह हैं, जिन्होंने वैरियों का दमन किया है और बड़े-बड़े राजाओं से अपने चरणों में मस्तक झुकवाया है। उनके महामन्त्री का नाम नानू है। उन्होंने सम्मेद शिखर के ऊपर वहां से सिद्ध गति को प्राप्त करने वाले बीस तीर्थकरों के मन्दिरों का निर्माण कराया, जैसे प्रथम चक्रवर्ती भरत ने अष्टापद के ऊपर मन्दिरों का निर्माण कराया था और उनकी कई बार यात्राएं की थीं।

उस राजा मानसिंह के एक अधिकारी गोधा गोत्रीय रूपचन्द खण्डेलवाल थे। वह महान् पुण्यात्मा, यात्रा आदि शुभकर्म करने वाला और अत्यन्त धनाढ्य व्यापारी था। वह महान् दाता, गुणज्ञ, जिनपूजन में रत रहने वाला था। वह धन में कुबेर को, स्वरूप में कामदेव को, प्रताप में सूर्य को, सौम्यता में चन्द्रमा को, ऐश्वर्य में इन्द्र को तिरस्कृत करता था। उसका पुत्र नानू था। वह राजा के समान था और अपने वंश का शिरोमणि था।

तीर्थकर भगवान् जिस स्थान से मुक्त हुए, उस स्थान पर सौधर्मेन्द्र ने चिन्ह स्वरूप स्वस्तिक बना दिया, दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार की मान्यता प्रचलित
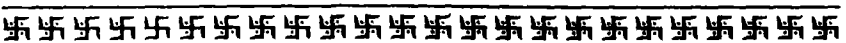
है। इस मान्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्त श्रावकों ने उन स्थानों पर तीर्थंकरों के चरण स्थापित किये। महामात्य नानू ने जिन मन्दिरों का निर्माण किया था, वे पुराने जीर्ण मन्दिरों के स्थान पर ही बनाये गये थे। (यहां मन्दिरों का अर्थ टोंकें हैं।)

मन्त्रिवर नानू द्वारा बनायी गयी वे ही टोंकें अब तक वहां विद्यमान हैं।

मन्त्रिवर नानू के पहले यहां मन्दिर और मूर्तियां थीं, इस प्रकार के उल्लेख हमें कई ग्रन्थों में मिलते हैं। तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् यति मदनकीर्ति, जो पं. आशाधर जी के प्रायः समकालीन थे, ने '**शासन चतुस्त्रिंशिका**' में उल्लेख किया है।

सौधर्म इन्द्र ने बीस तीर्थकरों की प्रतिमाएं जहां प्रतिष्ठित की हैं, तथा जो प्रतिमाएं अपने आकार की प्रभा से तुलना रहित हैं, उस सम्मेद रूपी वृक्ष पर भव्य जन कष्ट उठाकर भी सीढ़ियों द्वारा चढ़कर पुण्योदय से उन प्रतिमाओं की वन्दना करते हैं। भव्य के अतिरिक्त उनके दर्शन अन्य कोई नहीं कर सकता। यह दिगम्बर-धर्म शाश्वत है अर्थात् यहां सदा से रहा है।

यति जी ने सम्मेद शिखर के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है, उसमें तीन बातों का उल्लेख किया गया है-(1) इस क्षेत्र पर सौधर्म इन्द्र ने बीस तीर्थंकरों की प्रतिमा स्थापित की थी। (2) उन प्रतिमाओं का प्रभामण्डल प्रतिमाओं के आकार का था, इसलिए उनकी ओर देखने के लिए श्रद्धा की आंखें ही समर्थ होती थीं। जिनके हृदय में श्रद्धा नहीं होती थी, वे इन प्रभा-पुंज स्वरूप प्रतिमाओं को देख नहीं सकते थे। (3) यति जी के काल तक अर्थात तेरहवीं शताब्दी तक इस तीर्थराज पर दिगम्बर समाज का ही आधिपत्य था।

यतिवर्य मदनकीर्ति के काल में सम्मेद शिखर पर एक अमृतवापिका भी थी, जिसमें भक्त लोग अष्ट द्रव्यों (जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल) से बीस तीर्थंकरों के लिए अर्घ्य चढ़ाते थे।

प्राचीन काल में सम्मेदगिरि की यात्रा के विवरण

भक्तजन अत्यन्त प्राचीन काल से ही सिद्धक्षेत्र सम्मेदगिरि की पुण्य-प्रदायिनी यात्रा के लिए जाते रहे हैं। इन यात्राओं के विवरण पुराण ग्रन्थों, कथाकोषों और विविध भाषाओं में निबद्ध यात्रा-विवरण-काव्यों तथा ग्रन्थ-प्रशस्तियों में मिलते हैं।
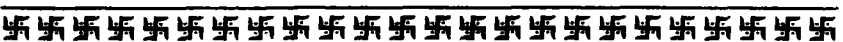
सम्मेद शिखर की यात्रा के सन्दर्भ में संघ सहित मुनि अरविन्द का चरित्र 'उत्तर पुराण' में मिलता है। पोदनपुर नगर के राजा अरविन्द थे। उनके नगर में वेदों का विशिष्ट विद्वान् विश्वभूति ब्राह्मण रहता था। उसके दो पुत्र थे- कमठ और मरुभूति। मरुभूति महाराज अरविन्द का मन्त्री था। वह अत्यन्त सदाचारी, विवेकी और नीतिपरायण भद्र व्यक्ति था। इसके विपरीत कमठ दुराचारी और दुष्ट प्रकृति का था। एक बार मरुभूति की स्त्री वसुन्धरी के कारण उत्तेजित होकर कमठ ने मरुभूति की हत्या कर दी। मरुभूति मरकर मलय देश में कुब्जक नामक सल्लकी के भयानक वन में हाथी हुआ। राजा अरविन्द ने किसी समय विरक्त होकर राजपाट छोड़ दिया और दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण कर ली। एक बार वे संघ के साथ सम्मेद शिखर की वन्दना के लिए जा रहे थे। चलते-चलते वे उसी वन में पहुंचे। सामायिक का समय हो जाने से वे प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। इतने में घूमता-फिरता वह मदोन्मत्त हाथी उधर ही आ निकला और मुनिराज को देखते ही वह उन्हें मारने दौड़ा। किन्तु मुनिराज के पास आते ही वह शान्त हो गया। उसकी दृष्टि मुनिराज की छाती के वत्स लांछन पर पड़ी। वह टकटकी लगाकर उस चिन्ह को देखता रहा। उसे देखकर उसके मन में अनजाने ही मुनि के प्रति प्रेम उमड़ने लगा। सामायिक समाप्त होने पर मुनिराज ने आंखें खोलीं। वे अवधिज्ञानी थे। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जानकर हाथी को उपदेश दिया और कहा- "गजराज! पूर्वजन्म में तू मेरा अमात्यं मरुभूति था। आज तू इस निकृष्ट तिर्यच योनि में पड़ा हुआ है। तू कषाय छोड़कर आत्म-कल्याण कर।" मुनिराज का उपदेश गजराज के हृदय में पैठ गया। उसने अणुव्रतों का नियम ले लिया। जीवन सात्त्विक बन गया। यही हाथी का जीव आगे जाकर कठोर साधना से तेईसवां तीर्थकर बना। अस्तु!

मुनिराज अरविन्द संघ सहित आगे बढ़ गये और सम्मेद शिखर पहुंचकर उन्होंने भक्तिभाव सहित उसकी वन्दना की। उन्होंने मोह का क्षय कर घातिया कर्मो का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त किया तथा वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

कवि महाचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा के **'संतिणाह चरिउ'** (रचना काल सं. 1587) में सारंग साहू का परिचय देते हुए उनकी सम्मेद शिखर यात्रा का वर्णन किया है कि भोजराज के पुत्र ज्ञानचन्द की पत्नी का नाम 'सउराजही' था जो अनेक गुणों से विभूषित थी। उनके तीन पुत्र हुए। पहला पुत्र सारंग साहू था, जिसने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी। उसकी पत्नी का नाम 'तिलाकाही' था।
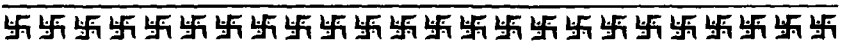
भट्टारक रत्नचन्द्र मूलसंघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक थे। ये हुंबड़ जाति के थे। इन्होंने 'सुभौमचक्रि-चरित्र' की रचना सं. 1683 में सागपत्तन (सागवाड़ा, वाग्वर देश) के हेमचन्द्र पाटनी की प्रेरणा से पाटलिपुत्र में गंगा के किनारे सुदर्शन चैत्यालय में की थी। पाटनी जी भट्टारक रत्नचन्द्र जी के साथ शिखर जी यात्रा के लिए गये थे। इनके साथ आचार्य जयकीर्ति तथा श्रावकों का संघ भी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने ग्रन्थ की प्रशस्ति में उल्लेख भी किया है।

कारंजा के सेनगण के भट्टारक सोमसेन के पट्टशिष्य भट्टारक जिनसेन द्वारा सम्मेदाचल की यात्रा का उल्लेख मिलता है। जिनसेन का समय शक सं. 1577 से 1607 (सन् 1655 से 1685) तक है। इनके सम्बन्ध में सेनगण मन्दिर नागपुर में स्थित एक गुटके में उल्लेख है कि भट्टारक जिनसेन ने गिरनार, सम्मेद शिखर, रामटेक तथा माणिक्य स्वामी की यात्राएं संघ सहित की थीं और उन्होंने संघ ले जाने वाले सोयरा शाह, निम्बाशाह, माधव संघवी, गनवा संघवी और कान्हा संघवी का संघपति के रूप में तिलक किया था। कान्हा संघवी का यह सम्मान-समारोह रामटेक में किया गया था।

सम्मेद शिखर माहात्म्य की रचनाएं

अनेक कवियों ने विभिन्न भाषाओं में सम्मेद शिखर के माहात्म्य और पूजाओं की रचनाएं की हैं, उनसे एक महान् सिद्धक्षेत्र और तीर्थराज के रूप में सम्मेद शिखर के गौरव पर प्रकाश पड़ता है और इस तीर्थक्षेत्र का नाम लेते ही श्रद्धा से स्वत: ही मस्तक उसके लिए झुक जाता है।

गंगादास कारंजा के मूलसंघ बलात्कारगण के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। आपने मराठी में पार्श्वनाथ भवान्तर, गुजराती में आदित्यवार व्रत कथा, त्रेपन क्रिया विनती व जटामुकुट, संस्कृत में क्षेत्रपाल पूजा एवं मेरुपूजा की रचना की है। आपका काल सत्रहवीं शताब्दी है। आपने संस्कृत में सम्मेदाचल पूजा भी बनायी, जो सरल और रोचक है।

मधुबन की धर्मशालाएं

बीसपन्थी कोठी सबसे प्राचीन है। इसकी स्थापना सम्मेद शिखर की यात्रार्थ आने वाले जैन बन्धुओं की सुविधा के लिए अनुमानत: सोलहवीं शताब्दी में हुई थी। यहां कोठी का मतलब धर्मशाला है।

यह कोठी ग्वालियर गादी के भट्टारक जी के अधीन थी। इस शाखा के भट्टारक महेन्द्रभूषण ने शिखरजी पर एक कोठी और एक मन्दिर की स्थापना

की और मन्दिर में पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा विराजमान करायी। उन्होंने एक धर्मशाला भी बनवायी। समाज के दो दानी सज्जनों ने दो मन्दिर भी बनवाये। महेन्द्रभूषण के पश्चात् शतेन्द्रभूषण, राजेन्द्रभूषण, शिलेन्द्रभूषण और शतेन्द्रभूषण भट्टारक क्रम से कोठी के अधिकारी हुए। ये भट्टारक अपने कारकुनों के द्वारा यहां की व्यवस्था कराते थे। कोठी और मन्दिर की अव्यवस्था देखकर भट्टारक राजेन्द्रभूषण ने दिनांक 15.4.1874 को एक इकरारनामा लिखकर आरा के 13 सज्जनों को ट्रस्टी मुकर्रर कर यहां का प्रबन्ध सौंप दिया। काल के प्रभाव से इनमें से 12 ट्रस्टियों का स्वर्गवास हो गया और जो एक ट्रस्टी बच गये थे, वे कोर्ट द्वारा इन्सौल्वैण्ट करार दे दिये गये। मन्दिर में भारी अव्यवस्था हो गयी। तब 21 मई 1903 को भट्टारक शतेन्द्रभूषण ने दूसरा इकरारनामा रजिस्टर्ड कराया। उसके द्वारा आरा के ही 15 सज्जनों को ट्रस्टी बनाया।

इन इकरारनामों से ज्ञात होता है कि उस समय ग्वालियर गादी के अधीन ग्वालियर, हंडमूरीपुर, भटसूर, सोनागिर, पटना, सम्मेद शिखर, आरा, गिरीडीह आदि कई स्थानों पर मन्दिर और धर्मशालाएं एवं उनकी गादियां थीं। उस समय बीस पंथी कोठी के अधीन सम्मेद शिखर के इन मन्दिर, धर्मशालाओं के अतिरिक्त गिरीडीह का मन्दिर और धर्मशाला भी थी तथा कुकों और वेन्द नामक दो गांव थे। कोठी में हाथी, घोड़े आदि रहते थे।

कोठी की जायदाद, हिसाब-किताब और इकरारनामे की वैधता को लेकर बम्बई के कुछ भाइयों (भा.दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की ओर से) आरा के इन ट्रस्टियों पर मुकदमा दायर कर दिया। उसमें रांची कोर्ट से दिनांक 11.1.1904 को कोठी पर रिसीवर बैठाने का हुक्म हो गया। फलतः रिसीवर बैठ गया। तब नागपुर में बैठकर आरा और बम्बई वालों में समझौता हुआ और वह सुलहनामा कोर्ट में पेश किया। फलतः दिनांक 9.5.1906 से उसका प्रबन्ध [मुकदमा नं. 1, सन् 1903 चुन्नीलाल जवेरी वगैरह मुद्दई (वादी) बनाम भट्टारक श्री शतेन्द्रभूषण वगैरह मुद्दालय (प्रतिवादी) बइजलास ज्यूडिशियल कमिश्नर रांची की डिग्री के अनुसार] ट्रस्ट कमेटी के सुपुर्द हुआ और ट्रस्ट कमेटी बाद में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अन्तर्गत कार्य करने लगी।

बीसपन्थी कोठी के लगभग 250 वर्ष बाद श्वेताम्बर कोठी का निर्माण हुआ। उसके लगभग 100 वर्ष बाद तेरापन्थी कोठी बनी।

— 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ' से साभार

● ● ●

शिखर जी के प्रति हमारे पूर्वजों का योगदान और हमारा कर्त्तव्य

- सुभाष जैन

शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर जी जैनों की श्रद्धा का केन्द्र है, क्योंकि इस पर्वत से बीस तीर्थंकर एवं असंख्य मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है। पर्वत पर 21 प्राचीन टोंकें हैं। 20 में तीर्थंकरों के तथा एक टोंक में गणधरों के चरण चिन्ह प्रतिष्ठित हैं।

समय के साथ-साथ राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक उथल-पुथल के कारण जैन धर्म की प्राचीनता (निर्ग्रन्थता) पर कुठाराघात होता रहा। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का यही मुख्य कारण बना। ईसा की पांचवीं शताब्दी के अन्त में बल्लभी वाचना के समय जैनों का एक सम्प्रदाय प्राचीन जैन समाज से अलग हो गया। प्राचीन जैन दिगम्बर कहलाने लगे और अलग हुआ सम्प्रदाय मूर्तिपूजक श्वेताम्बर कहलाया।

उक्त तथ्यों की पुष्टि विश्व के इतिहासकारों ने इस प्रकार की है -

"…. श्वेताम्बरों का अस्तित्व अल्पकाल से बमुश्किल ईसा की पांचवीं शताब्दी से है जबकि दिगम्बर निश्चित रूप से वही निर्ग्रंथ हैं जिनका वर्णन बौद्धों के धर्म ग्रंथों के अनेक परिच्छेदों में हुआ है। इसलिए वे ईसा पूर्व 600 वर्ष प्राचीन तो हैं ही। भगवान महावीर और उनके प्रारंभिक अनुयायियों की अत्यन्त प्रसिद्ध बाह्य विशेषता थी-उनके नग्न रूप में भ्रमण करने की क्रिया, और इसी से दिगम्बर शब्द बना।"

(एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-25 ग्यारहवां संस्करण सन् 1911)

"…… हिन्दुओं के प्राचीन दर्शन ग्रन्थों में **जैनियों को नग्न अथवा दिगम्बर** शब्द से संबोधित किया गया है।" (श्री एच.एस. बिल्सन)

"मथुरा से कुशाण काल निर्मित तीर्थंकरों की जो प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं उनमें यदि जिन भगवान खड्गासन मुद्रा में हैं तो निर्वस्त्र (नग्न) दिगम्बर हैं और यदि पद्मासन में हैं तो उनकी बनावट इस प्रकार की है कि न तो उनके वस्त्र और न गुप्तांग दिखाई देते हैं। गुजरात के अकोटा स्थान से ऋषभनाथ
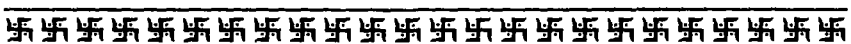
की अवरभाग पर वस्त्र सहित जो खड्गासन प्रतिमा मिली है वह ईसा की पांचवीं शताब्दी के अंतिम काल की मानी गयी है जो कि बल्लभी में हुए अंतिम अधिवेशन (वाचना) का समय भी है। इससे पता चलता है कि बल्लभी के इस अंतिम **अधिवेशन से ही श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ।"**

(एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-10 पृष्ठ 11 सन् 1981)

दिगम्बर जैन समाज सदैव ही असंगठित-सा रहा है। अपने तीर्थो के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा तो रही, किन्तु संगठन और धनाभाव के कारण उनके विकास और व्यवस्था के प्रति कुछ उदासीन भी रहा। ठीक इसके विपरीत मूर्तिपूजक श्वेताम्बर संगठित और धनाढ्य रहा। इसी का लाभ उठाकर उन्होंने प्राचीन तीर्थों पर अपना कब्जा करने की कूटनीति अपनाई। इसी नीति के अंतर्गत उन्होंने शिखरजी को अपना साबित करने के लिए कई चालें चली। अकबर के फरमान के आधार पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया, किन्तु पटना हाईकोर्ट ने फरमान को जाली करार दिया। राजा पालगंज से खरीदारी के आधार पर तीर्थ को अपना बताया। पर्वतराज के बिहार सरकार में निहित हो जाने से यह चाल भी नहीं चल पाई। वैसे भी सुप्रीम कोर्ट की नज़ीर है कि मंदिर-पूजा स्थल बेचे और खरीदे नहीं जाते। अंततोगत्वा प्रिवीकोंसिल ने सभी प्राचीन टोंको में दिगम्बरी आम्नाय के चरण-चिन्ह प्रतिष्ठित होने की पुष्टि की। इस सब के बावजूद मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने अन्य कई प्रकार के हथकण्डे अपना कर तीर्थराज पर अपना आधिपत्य जमाने और दिगम्बरों को हटाने का अभियान जारी रखा। ऐसे संकट-काल में संगठन का अभाव होते हुए दिगम्बर जैन समाज के कई महानुभाव तीर्थराज की रक्षार्थ व्यक्तिगत रूप में आगे आए और समर्पण भावना से सेवा में जुट पड़े। इनमें सहारनपुर के सेठ जम्बूप्रसाद का नाम उल्लेखनीय है।

सेठ जम्बूप्रसाद जैन का अद्‌भुत त्याग

प्रसिद्ध साहित्यकार श्री कनैहिया लाल मिश्र 'प्रभाकर' के अनुसार राजा ने सम्मेद शिखरजी का तीर्थ श्वेताम्बर समाज को बेच दिया था उससे तीन प्रश्न उभर आये थे। श्वेताम्बरों का आग्रह था कि हम दिगम्बरों को इस तीर्थ की यात्रा न करने देंगे। यह दिगम्बरियों का घोर अपमान था, यह पहला
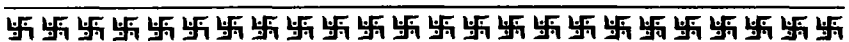
प्रश्न। राजा को तीर्थ बेचने का अधिकार नहीं है, क्योंकि तीर्थ कोई सम्पत्ति नहीं है, यह दूसरा प्रश्न और तीर्थ के सम्बन्ध में दिगम्बरों के अधिकार का प्रश्न।

दिगम्बर समाज का हर एक आदमी बेचैन था, पर कोरी बेचैनी क्या करेगी ? यहां तो आगे बढ़कर एक पूरा युद्ध सिर पर लेने की बात थी, उसके लिए प्राय: कोई तैयार न था। इतने विशाल समाज में एक सिर उभरकर उठा, एक कदम आगे बढ़ा और एक वाणी सबके कानों में प्रतिध्वनित हुई -

''**सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा। यह दिगम्बर समाज के जीवन-मरण का प्रश्न है। मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।**''

यह सहारनपुर के प्रख्यात रईस ला. जम्बूप्रसादजी की वाणी थी, जिसने सारे समाज में एक नवचेतना की फुहार बरसा दी। मीठे बोल बोलना भले ही मुश्किल हों, ऊंचे बोल बोलना बहुत सरल है। इस सरलता में कठिनता की सृष्टि तब होती है, जब उसके अनुसार काम करने का समय आता है। लालाजी ने ऊंचे बोल बोले और उन्हें निबाहा, **50 हजार चांदी के सिक्के अपने घर से निकालकर उन्होंने खर्च किये** और श्री देवीसहायजी फीरोजपुर निवासी एवं श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई के कन्धे से कन्धा मिलाकर पूरे ढाई वर्ष तक रात-दिन अपने को भूले, वे उसमें जुटे रहे और तब चैन से बैठे, जब समाज के गले में विजय की माला पड़ चुकी।

तीर्थरक्षक-अजितप्रसाद जैन

लखनऊ के श्री अजितप्रसाद जैन एडवोकेट ने दिगम्बरों के अधिकारों की रक्षा हेतु अपना जीवन ही समर्पित कर दिया। उनके द्वारा लिखित 'अज्ञात जीवन' पुस्तक से कुछ तथ्य यहां दिए जा रहे हैं :

तीर्थक्षेत्र कमेटी

दिगम्बर जैन समाज के वास्तविक दानवीर श्री सेठ माणिकचन्द हीराचन्द, Justice of the Peace 'शान्ति रक्षक' पदवी से विभूषित, जैन जाति-उद्धारक, जैन धर्म सेवक, जैन धर्म प्रभावना संचारक, धर्मवीर ने मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन समाज के अत्याचार तथा जैन तीर्थ क्षेत्रों पर अनधिकृत आक्रमण के कारण एक कमेटी की स्थापना करना आवश्यक समझा।
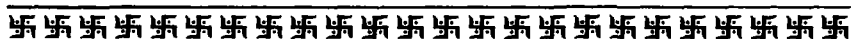
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का कार्यालय नियमानुसार बम्बई की हीराबाग धर्मशाला में खोला गया। सेठजी ने महामंत्री पद का काम अपने ऊपर लिया।

पूजा केस

7 मार्च 1912 को बाबू महाराज बहादुर सिंह ने श्वेताम्बर जैन संघ की ओर से, सेठ हुकुमचन्द तथा 18 अन्य भारतवर्षीय दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख सदस्यों के विरुद्ध, आर्डर 8 रूल 1 के अनुसार, सब जज हज़ारीबाग की कचहरी में नालिश पेश की।

मुद्दई का दावा था कि श्री सम्मेद शिखर जी निर्वाण-क्षेत्र स्थित टोंक, मन्दिर, धर्मशाला सब श्वेताम्बर संघ द्वारा निर्मित हुई हैं। **दिगम्बराम्नायी जैनियों को श्वेताम्बर आम्नाय के विरुद्ध और श्वेताम्बर संघ की अनुमति बिना प्रक्षाल-पूजा आदि करने का अधिकार नहीं है; न वह धर्मशाला में ठहर सकते हैं।**

यह मुकदमा साढ़े चार बरस से ऊपर चला। उभय पक्ष का कई लाख रुपया व्यर्थ खर्च हुआ। अन्तिम निर्णय सब-जजी से 31 अक्टूबर 1916 को हुआ। **सभी प्राचीन 21 टोंकों में प्रतिवादी दिगम्बरी संघ का प्रक्षाल-पूजा का अधिकार निश्चित पाया गया।**

गांधीजी पंच बने

1917 का कांग्रेस अधिवेशन देखने के लिए मैं कलकत्ता गया। एक दिन महात्मा भगवान दीन जी के साथ मैं ब्रह्ममुहूर्त में महात्मा गांधी के निवास स्थान पर गया। महात्मा जी से निवेदन किया कि वह दिगम्बर-श्वेताम्बर समाज के पारस्परिक विरोध का, जो कई बरस से चल रहा है, जिसमें कई लाख रुपया उभय समाज का नष्ट हो चुका है और पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ता जा रहा है, अन्त करा दें। महात्मा गांधी ने हमारी प्रार्थना ध्यान से सुनी और मामले का निर्णय करना स्वीकार किया और कहा कि चाहे जितना समय लगे, मैं इस झगड़े का निबटारा कर दूंगा किन्तु उभय पक्ष इकरार नामा रजिस्टरी कराके मुझे दे दें कि मेरा निर्णय उभयपक्ष को नि:संकोच स्वीकार और माननीय होगा। परन्तु मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने गांधी जी के सुझाव को मानने से इन्कार कर दिया।
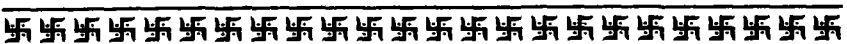
इञ्जङ्कशन केस

'पूजा केस' के निर्णय के पश्चात् जिसमें श्वेताम्बर समाज को यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त हुई, सम्मेदाचल तीर्थराज के श्वेताम्बराम्नायी प्रबन्धकों ने यह प्रयत्न किया कि श्री कुंथनाथ की टोंक के पास जहां से मधुवन के रास्ते से तीर्थराज की यात्रा प्रारम्भ होती है, एक बड़ा फाटक खड़ा कर दिया, जिसमें यात्रियों को यात्रा के लिए श्वेताम्बर समाज की दया-दृष्टि पर निर्भर रहना पड़े, उस फाटक के पास तलवार-बंदूक आदि हथियार बन्द सिपाही भी रखे गए। तीर्थराज पर बिजली गिरने से पूज्य चरणालय जिनको 'टोंक' कहा जाता है टूट जाती हैं और नूतन चरण स्थापना की आवश्यकता होती है। ऐसे नवीन चरण श्वेताम्बर समाज के प्रबन्ध से इस रूप में स्थापित किये गये थे जिस रूप में वह दिगम्बर आम्नायी उपासकों द्वारा पूज्य नहीं थे।

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार 'चरण-चिन्ह' अर्थात् चरणों के तलवों की छाप पूज्य है, किन्तु चरण युगल की आकृति अर्थात् नाखूनदार अंगूठा अंगुलियों की और पंजे की आकृति अपूज्य है। अतः फाटक और सिपाहियों के निवास स्थान बनाने को रोकने और अपूज्य चरणों को हटाकर पूजा योग्य चरण-चिन्ह स्थापन किये जाने के वास्ते दिगम्बर समाज की ओर से हजारीबाग के सब जज की कचहरी में 4 अक्टूबर 1920 को नालिश दाखिल की गई।

इस मुकदमे में (1) सर सेठ हुकुमचन्द, इन्दौर (2) श्री जम्बूप्रसाद, सहारनपुर (3) श्री देवी सहाय, फिरोजपुर (4) सेठ हीराचन्द, शोलापुर (5) सेठ सुखानन्द, बम्बई (6) सेठ दयाचन्द, कलकत्ता (7) सेठ मानिकचन्द, झालरापाटन (8) सेठ टेकचन्द, अजमेर (9) सेठ हरसुखदास, हज़ारीबाग क़ुल नौ मुद्दई थे।

(1) बाबू महाराज बहादुर सिंह, (2) नगरसेठ कस्तूरभाई, अहमदाबाद, (3) बाबू रायकुमार सिंह, कलकत्ता (4) सेठ मोतीचन्द, कलकत्ता श्वेताम्बरी जैन मूर्तिपूजक समाज के प्रतिनिधि रूप में मुद्दालेह बनाये गये थे।

नालिश आर्डर 8 रूल 1 के अनुसार की गई थी। दिगम्बर 1923 के प्रारम्भ में उस मुकदमे में गवाह पेश होने का अवसर आया। सेठ मानिकचन्द जी का स्वर्गवास हो चुका था। **कमेटी की रोकड़ में खर्च के वास्ते पर्याप्त धन नहीं था।** बैरिस्टर चम्पतराय जी हरदोई जिले में ख्याति प्राप्त फौजदारी के

विशेषज्ञ वकील थे। **उन्होंने तीर्थराज की सेवा करने और बिना किसी फीस के मुकदमे में काम करने के अभिप्राय से बैरिस्टरी का व्यवसाय त्याग दिया,** जिससे उनको कई हज़ार रुपये मासिक आमदनी थी। श्री चम्पतराय के लिखने पर मैंने भी तीर्थराज की सेवा बिना किसी फ़ीस करना स्वीकार कर लिया।

हम दोनों 2 दिसम्बर 1923 को लखनऊ से चलकर 3 दिसम्बर को हज़ारीबाग पहुंच गये। 4 दिसम्बर 1923 से 16 जनवरी तक हमारी तरफ़ के गवाह पेश होते रहे, जिनमें मुख्यतया लाला देवीसहाय जी फीरोज़पुर, सेठ हरनारायण जी भागलपुर, रायसाहब जुगमन्धर दास नजीबाबाद, सर सेठ हुकुमचन्द इन्दौर, रायबहादुर नांदमल अजमेर, रायसाहेब फूलचन्दराय लखनऊ, पंडित पन्नालाल न्याय दिवाकर, पंडित जयदेव जी, पंडित गजाधर लाल जी थे। कई महीने गवाही चली।

उभयपक्ष की बहस 18 दिन तक चली और 26 मई 1924 को हमारा दावा खर्चे समेत डिगरी हुआ। निर्णायक श्री फणीन्द्र लाल सेन संस्कृतज्ञ सबजज महोदय थे। उस निर्णय की अपील पटना हाई में श्री Ross और श्री Wort दो अंग्रेज जजों के सामने पेश हुई। श्वेताम्बरी संघ की तरफ से श्री भूलाभाई देसाई ने बहस की थी। **चरण-चिन्ह के विषय में हमारी जीत हुई।**

मैंने 7 वर्ष तक 1923 से 1930 तक तीर्थक्षेत्र कमेटी का काम किया। 46000 रुपए मेरे नाम से तीर्थक्षेत्र कमेटी की बही में दानखाते जमा हैं।

कर्त्तव्य पालक : बैरिस्टर चम्पतराय जैन

बैरिस्टर चम्पतराय जैन अपने धर्म के प्रति पूर्णत: समर्पित थे। तीर्थ स्थान को वह पवित्र भूमि मानते थे। उनका मत था, जो भी जिनेन्द्र भक्त है वह तीर्थवन्दना करने का अधिकारी है। उन्होंने प्रयत्न किया कि तीर्थों के मुकदमे जो दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में चल रहे हैं, आपस में तय हो जायें। किन्तु भवितव्य ऐसा न था। आखिर दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से उन्होंने **नि:शुल्क शिखरजी केस-अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ केस** आदि मुकदमों की पैरवी की-स्वत: **अपना खर्च करके प्रिवी कौंसिल में अपील की पैरवी करने गये।** उन्हीं की दलील को कि यह पवित्र तीर्थ किसी की निजी सम्पत्ति नहीं हैं-ये

देवद्रव्य हैं, जिस पर प्रत्येक भक्त को वन्दना करने का अधिकार है, प्रिवी कौंसिल ने मान्य किया था।

उन्हें जैनियों की मुकदमेबाजी की मूढ़ता पर बड़ी चिढ़ थी। एक दफा वह बोले, "भला देखो तो लाखों रुपया बरबाद किया जा रहा है। एक अजैन वकील और एक अजैन न्यायाधीश हमारे धर्म के मर्म को क्या समझेगा और वह कैसे धार्मिक निर्णय देगा? फिर भी जैनी सरकारी न्यायालयों में न्याय के लिए दौड़ते हैं।"

बिहार सरकार से अनुबंध

जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार पारसनाथ पर्वत बिहार सरकार में निहित हो गया। श्वेताम्बरी मूर्तिपूजकों ने 1965 में बिहार सरकार से असत्य तथ्यों के आधार पर एक अनुबंध कर लिया जिसके अनुसार जंगल की आमदनी का 60 प्रतिशत मैनेजरी की उजरत उन्हें मिलना तय हुआ।

साहू शान्ति प्रसाद जैन को जैसे ही उक्त घटना का पता चला तो उन्होंने सरकार से अपने अधिकारों के रक्षा की पैरवी की। उन्होंने दिगम्बर जैन समाज का आह्वान किया और दिल्ली में समूचे देश से आए स्त्री-पुरुषों की एक रैली निकली। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को दिगम्बर जैन समाज की ओर से अपने अधिकारों की रक्षार्थ एक ज्ञापन प्रेषित किया गया। फलस्वरूप बिहार सरकार ने दिगम्बरों के साथ भी एक अनुबंध किया जिसके अनुसार दिगम्बरों को अपनी टोंकों की रक्षा और पूजा प्रक्षाल का हक मिला।

तीर्थ क्षेत्र कमेटी के समर्पित अध्यक्ष

साहू अशोक कुमार जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सन् 1990 में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। दिगम्बर तीर्थों विशेषकर शिखरजी की दशा देखकर वह द्रवित हो गए। वह चाहते थे कि दिगम्बर व मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों का आपसी समझौता हो जाय ताकि लाखों रुपया वार्षिक मुकदमेबाजी में खर्च न होकर तीर्थों का विकास हो। जैन समाज की विश्व-पटल पर पहचान बने। इसी बीच समर्पित कानूनविद डॉ. डी.के. जैन उनके सम्पर्क में आए। इसी भावना के अंतर्गत बिहार सरकार से सम्पर्क कर उन्होंने राज्य सरकार से एक अध्यादेश प्रस्तावित कराया जिसके अनुसार दोनों पक्षों के समान संख्या में सदस्य रहें

ताकि शिखरजी का विकास हो। किन्तु मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने इसका विरोध कर कार्य रुकवा दिया।

मई 1994 को साहू अशोक कुमार जैन के आह्वान पर समूचे देश से लाखों की संख्या में एकत्र होकर दिगम्बर जैन समाज की दिल्ली में एक अभूतपूर्व विशाल रैली निकाली गई। यह एक ऐतिहासिक रैली थी। **इस रैली के फलस्वरूप दिगम्बर समाज में गज़ब की चेतना आई।** रैली ने एक ज्ञापन गृह मंत्रालय को प्रस्तुत किया। किन्तु श्वेताम्बरी मूर्तिपूजक समाज के नेताओं की हठधर्मी के कारण अध्यादेश बिहार सरकार को वापिस करा दिया गया।

साहू अशोक कुमार जैन के मार्गदर्शन में डॉ. डी.के. जैन ने शिखरजी मुकदमों की बारीकी से छान-बीन की। पटना हाईकोर्ट की रांची बैंच में मुकद्रमे की सुनवाई आरम्भ हुई। हमारे आचार्यों, मुनियों व आर्यिकाओं के आशीर्वाद, विद्वानों के सहयोग व डॉ. डी.के. जैन की समर्पण भावना और सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री आर.के. जैन की पैरवी से 1.7.99 को रांची हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री पी.के. देव के निर्णय के अनुसार दिगम्बरों के अधिकारों की रक्षा हुई। वर्तमान में उक्त निर्णय के विरुद्ध श्वेताम्बरी मूर्तिपूजकों की अपील रांची हाईकोर्ट में डिवीजन बैंच के समक्ष विचाराधीन है। फैसला कुछ भी हो मामला सुप्रीम कोर्ट में जाना ही है।

उपरोक्त तथ्यों से एक बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि बाबू चम्पतराय जैन, बाबू अजितप्रसाद जैन व साहू अशोक कुमार जैन आदि सभी दिगम्बरी नेता दोनों पक्षों में समझौते के पक्षधर रहे हैं।

सम्मेद शिखरजी आन्दोलन समिति के आह्वान पर आज समूचा दिगम्बर जैन समाज एक जुट हो गया है। हमें अपनी एकता कायम रखनी है। शिखरजी ही नहीं, हमारे अन्य कई तीर्थों पर विवाद चल रहे हैं। समय रहते यदि दिगम्बर समाज सक्रिय न रहा तो हम अपने तीर्थों से वंचित हो जायेंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने पूर्वजों की तरह **भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हीरा बाग सी.पी. टैंक, मुम्बई-400004** के हाथ मजबूत करें। हम अपनी एकता और समर्पण भावना से ही अपने तीर्थों की रक्षा में सक्षम होंगे।

महासचिव, वीर सेवा मंदिर
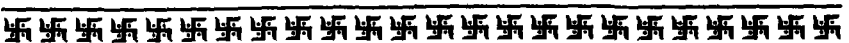
आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज का संदेश

"शिखरजी की सुरक्षा व विकास समाज का प्रथम कर्त्तव्य"

"पंचकल्याणकों एवं विधानों की बचत-राशि शिखरजी को दी जाए।"

*17 फरवरी 2000, करेली, जिला-नरसिंहपुर (म.प्र.) में पंचकल्याणक के अवसर पर आयोजित एक विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए संत शिरोमणि **आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज** ने समाज का आह्वान किया कि "समूचे देश में विद्यमान हमारे सभी तीर्थों की रक्षा और विकास में तन-मन-धन से सहयोग करना चाहिए। उन्होंने कहा कि वर्तमान चौबीसी के बीस तीर्थंकर शिखरजी से मोक्ष गए हैं। वहां उन सभी के निर्वाण-स्थलों पर उनके चरण-चिन्ह प्रतिष्ठित हैं। इसलिए शिखरजी जैन धर्म की मूल धरोहर है। शिखरजी की सुरक्षा और विकास करना जैन मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी को सहयोग करना आवश्यक है। देश में जहां कहीं भी **पंचकल्याणक अथवा विधान समारोह आयोजित हों उनकी बचत राशि श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट को दी जाए।** समाज का यह सहयोग अनिवार्य रूप से होना चाहिए।"*

महाराजश्री के उद्‌बोधन से प्रभावित होकर करेली पंचकल्याणक कमेटी ने बची राशि शिखरजी ट्रस्ट को देने की घोषणा की।

इसी प्रकार छिन्दवाड़ा की पंचकल्याणक कमेटी ने भी आचार्यश्री के मार्गदर्शन के आलोक में वहां सम्पन्न पंचकल्याणक महोत्सव (12-16 मार्च 2000) की बचत-राशि शिखरजी को देने की घोषणा की है।

शिखरजी ट्रस्ट का गठन

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई देश के सभी दिगम्बर तीर्थों के विकास हेतु अनुदान देने के अलावा कई तीर्थो पर चल रहे मुकदमों की पैरवी भी करती है। गत सौ वर्षों से शिखरजी के मुकदमे भी यही कमेटी लड़ रही है। सभी तीर्थो की अपनी प्रबन्ध कमेटी होती है। समाज के कई महानुभावों की जिज्ञासा थी कि शिखरजी तीर्थ की अलग से कोई प्रबंध कमेटी क्यों नहीं है? शिखरजी में तेरह पंथी और बीस पंथी कोठी केवल यात्रियों के आवास का प्रबन्ध करती हैं। सम्मेदाचल विकास समिति चौपड़ा कुण्ड के मन्दिर की व्यवस्था करती है। शिखरजी पर्वतराज के प्रबन्ध व सुरक्षा का दायित्व उनका नहीं है। समाज के कई महानुभावों की इच्छा थी कि **शिखरजी के लिए दिया गया उनका दान केवल शिखरजी के लिए ही काम आना चाहिए अन्य कामों में नहीं।** कमेटी में इस पर विचार चल ही रहा था कि संयोग से कमेटी के अध्यक्ष व सदस्यों को प०पू० आचार्यश्री विद्यासागरजी के दर्शनों का सौभाग्य मिला। महाराजश्री ने पलक झपकते ही समस्या का निदान कर दिया। उनके मार्ग दर्शन के अनुसार शिखरजी ट्रस्ट की योजना बनी और आचार्यश्री द्वारा दिये गये नाम '**श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट**' का गठन हो गया। **ट्रस्ट केवल शिखरजी की सुरक्षा और विकास में ही धन का उपयोग करता है अन्य कार्यों में नहीं।** यह ट्रस्ट समूचे दिगम्बर जैन समाज के सहयोग से संचालित है। ट्रस्ट को दिया गया दान आयकर की धारा 80जी के अन्तर्गत करमुक्त है। ट्रस्ट के आय-व्यय का ब्यौरा तीर्थक्षेत्र कमेटी की मासिक पत्रिका 'तीर्थवंदना' में प्रकाशित होता है और यह पत्रिका सभी सदस्यों को भेजी जाती है। ट्रस्ट में दान की कोई भी राशि सहर्ष स्वीकार की जाती है किन्तु कोई भी दिगम्बर जैन 'महिला या पुरुष' ट्रस्ट का सदस्य बन सकता है। सदस्यता शुल्क इस प्रकार है :

1. आजीवन सदस्यता-जो 5,100/- रुपए दान करे या कराए।
2. विशिष्ट सदस्यता-जो 25,000/- रुपए दान करे या कराए।
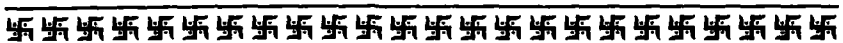
3. सम्मानीय सदस्यता-जो 1,25,000/- रुपए दान करे या कराए।

4. संरक्षक सदस्यता-जो 5,00,000/- रुपए दान करे या कराए।

संरक्षक सदस्यता सोसाईटी, फर्म, एच.यू.एफ. या कम्पनी भी ले सकती हैं।

शिखरजी के लिए आपका छोटे-से-छोटा दान भी ट्रस्ट की सफलता का सम्बल बनेगा। आप खुशी के मौके पर अथवा अपने प्रियजन की याद में ट्रस्ट को दान देना न भूलें। पंचकल्याणकों के अवसर पर शिखरजी के लिए भी एक बोली लगवाकर सहयोग करें। **सभी दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं एवं विद्वत वर्ग से निवेदन है कि ट्रस्ट के लिए समाज को सहयोग देने की प्रेरणा दें।** समाज के सभी युवकों, बच्चों, पुरुषों एवं महिलाओं से आग्रह है कि अधिक से अधिक सहायता देकर ट्रस्ट को मजबूत बनाएं। सभी ग्राम-नगरों व मोहल्लों की पंचायतों, आन्दोलन समितियों, अखिल भारतीय अथवा स्थानीय संस्थाओं के पदाधिकारी समाज की बैठक बुलाकर शिखरजी की वस्तु स्थिति से अवगत कराकर धन एकत्र करें और दातारों की सूची सहित चेक, बैंक ड्राफ्ट अथवा नकद सीधे ट्रस्ट कार्यालय में भेजें। सभी दातारों की रसीदें अलग-अलग नाम से भेज दी जायेंगी। **ध्यान रहे ट्रस्ट का कोई प्रचारक चन्दा एकत्र करने नहीं भेजा जाता है।**

बूंद-बूंद जल से सागर बनता है अतः आप अपनी बचत से कोई भी राशि ट्रस्ट को स्थाई रूप से अवश्य भेजते रहें। आपके सक्रिय सहयोग से ही ट्रस्ट को बल मिलेगा और आपका यह ट्रस्ट अधिक तत्परता से शिखरजी की सुरक्षा और विकास में अग्रसर होगा। ट्रस्ट बुक सं. IV भाग 2528 पृष्ठ 76 पर नई दिल्ली में पंजीकृत है।

सहयोग भेजने का पता

श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट
वीर सेवा मन्दिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 फोन : 3250522

SHREE DIGAMBAR JAIN SHASHWAT TEERATHRAJ SAMMED SHIKHAR TRUST
Vir Sewa Mandir, 21, Daryaganj, New Delhi-110002 Ph. . 3250522

ट्रस्ट की सेवाएं

ट्रस्ट का कार्यालय मधुवन शिखरजी में भी कार्यरत है। यात्रियों की सुविधार्थ बिहार सरकार का टूरिस्ट गैस्ट हाउस लीज पर ले लिया गया है जिसमें आधुनिक सुविधाओं से युक्त कमरों का उपयोग यात्री कर रहे हैं। बीस पंथी कोठी द्वारा अपने प्रांगण में प्रदत्त स्थान पर ट्रस्ट ने 31 जनवरी, 1999 से नि:शुल्क शुद्ध भोजनालय का शुभारम्भ कर दिया है। इससे यात्रियों को भोजन बनाने के झंझट से राहत मिल गई है। प्रति माह लगभग आठ से दस हजार यात्री दोनों समय इस सुविधा का लाभ उठा रहे हैं।

पर्वतराज की वन्दना के मार्ग में सड़क सीढ़ी का निर्माण हो चुका है। इससे पैदल नंगे पांव यात्रा अपेक्षाकृत बहुत सुगम हो गई है। वर्षा से बचाव के लिए मार्ग पर कई छतरियां और बैंचें बनाई गई हैं। मार्ग में पीने के जल का प्रबन्ध है। कई नालों पर पुल बनाए गए हैं। साहू जैन ट्रस्ट के सहयोग से मार्ग में भाताघर का नवीनीकरण हो गया है जिसमें यात्रियों को जलपान दिया जाता है।

पारसनाथ की टोंक से 400 मीटर नीचे लीज पर लिए डाक बंगले का जीर्णोद्धार हो चुका है जिसमें सुविधा सम्पन्न आवास और शुद्ध भोजन की समुचित व्यवस्था है। अधिक वन्दना करने वाले यात्री मधुवन वापस न लौटकर इस सुविधा का लाभ उठाते हैं। यहीं रुककर यात्री पारसनाथ की टोंक पर कई दिनों तक 24 घंटे अखण्ड पाठ करके पुण्य लाभ लेते हैं। जल की आपूर्ति हेतु डाक बंगले से एक किलोमीटर पाईप लाईन डालकर डीजल सैट से पानी खींचने का प्रबंध किया गया है।

वन्दना के समय गणधर और पारसनाथ की टोंकों पर दिगम्बर जैन पुजारी रहते हैं। यात्री पूजा-प्रक्षाल में उनकी सहायता ले रहे हैं। **इन दोनों टोंकों पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की दान पेटी रखी हैं। यात्रियों से अपेक्षा है कि अपना दान उन्हीं पेटियों में डालें।** पुजारियों से रसीद प्राप्त कर दान दिया जा सकता है। **दान पात्रों में उपलब्ध राशि शिखरजी के लिए ही**

खर्च होती है। इन दोनों टोंकों और डाक बंगले पर प्राथमिक चिकित्सा के प्रबन्धों का लाभ भी यात्री उठाते हैं।

पर्वतराज के समीप वाले ग्रामों में भीलों के निर्धन बच्चों के लिए स्कूलों का प्रबन्ध किया गया है। ग्रामीण जनता के लिए चिकित्सा सुविधाएं भी जुटाई गई हैं।

पर्वतराज पर हमारे साधुओं, त्यागियों के रात्रि विश्राम अथवा यात्रा में रुकने के लिए कानूनी अड़चन समाप्त होते ही धर्मशाला बनाने की योजना है।

आपातकाल में पर्वतराज से तलहटी में तुरन्त सम्पर्क करने के लिए टेलीफोन व्यवस्था चालू कराने के लिए प्रयास चल रहे हैं।

यात्रियों के साथ लूट-पाट की घटनाओं को रुकवाने के लिए बिहार और केन्द्र सरकार से आवश्यक प्रबन्ध जुटाए गए हैं।

बिजली की व्यवस्था सुचारु रखने के लिए अपने जैनरेटर सैट व अन्य व्यवस्थाएं भी की जा रही हैं।

मधुवन में यात्रियों की सुविधार्थ शीघ्र ही 100 कमरों की सुविधा सम्पन्न धर्मशाला बनाने की योजना है जिसमें पूरी बस के यात्रियों कि लिए बड़े हाल भी रहेंगे।

आपके सुझाव ट्रस्ट की सफलता के संबल बनेंगे। कृपया ट्रस्ट के सदस्य अवश्य बनें और अपने मित्रों को भी ट्रस्ट का सदस्य बनने की प्रेरणा दें।

श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट

वीर सेवा मन्दिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-3250522

शाखा-मधुबन पोस्ट शिखरजी-825329, जिला-गिरिडीह (बिहार)

दूरभाष : 06532-32270 व 32265

• • •

63/3

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

इस अंक में

विशेष सूचना : विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो। इसमे प्राय विज्ञापन एव समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष-53 किरण-3

जुलाई-सितम्बर 2000

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

परामर्शदाता :

पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
वार्षिक शुल्क
15/-
इस अंक का मूल्य
5/-
सदस्यों व मंदिरों के लिए
निःशुल्क

प्रकाशक :

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :

मास्टर प्रिंटर्स-110032

जीव! तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा

जीव तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा
मोह मद वार पियौ, स्वपद विसार दियौ,
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुख में रचियौ,
भय तैं न भियौ, न तजियौ मन मैलवा।।
।। जीव तू अनादि ही तैं० ।। 1 ।।

मिथ्या ज्ञान आचरण, धरिकर कुमरन,
तीन लोक की धरन, तामें कियौ है फिरन,
पायो न शरन, न लहायौ सुख सैलवा।।
।। जीव तू अनादि ही तैं० ।। 2 ।।

अब नर भव पायो, सुथल सुकुल आयौ,
जिन उपदेश भायौ, 'दौल' झट छिटकायौ,
पर परनति दुखदायिनी, चुरैलवा।।
।। जीव तू अनादि ही तैं० ।। 3 ।।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

आदर्श मुनि

जैन परम्परा में निर्ग्रन्थ मुनि को परम आराध्य, आदर्श एवं परमेष्ठी स्वरूप निरूपित किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने विषय आशा रहित, आरम्भ परिग्रह रहित एवं ज्ञान, ध्यान, तप में लीन साधु को प्रशंसनीय कहा है –

विषयाशा वशातीतो निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञानध्यान तपो रक्तः तपस्वी स प्रशस्यते।।

–10.2.क. श्रावकाचार

साधु परमेष्ठी आदर्श स्वरूप है। 'आदर्श' दर्पण को कहा जाता है और दर्पण में किंचित् मात्र भी रजकण वस्तु के यथार्थ प्रतिबिम्ब को बिम्बित करने में असमर्थ रहता है। उसी तरह मुनि यदि लोकैषणा के प्रति आकृष्ट हो तो वह आदर्श स्थिति नहीं कही जा सकती। आचार्य अमितगति ने योगसार प्राभृत में स्पष्ट लिखा है –

भवाऽभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा वशीकृताः।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोकपंक्तिकृतादराः।।

–18, योगसारप्राभृत

कुछ मुनि परमधर्म का अनुष्ठान करते हुए भी **भवाभिनन्दी** (संसार का अभिनन्दन करने वाले) **संज्ञाओं** (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह) के वशीभूत हैं और लोकपंक्ति में आदर रखते हैं अर्थात् लोकरंजन में रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं।

ऐसे मुनि परमेष्ठी आदर्श स्वरूप कैसे हो सकते हैं यह आगम के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है।

आर्यिका, आर्यिका है मुनि नहीं

—रतनलाल बैनाड़ा

एक साप्ताहिक में 'जगतपूज्य आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति में पाद-प्रक्षालन पूजनादि नहीं करने-कराने वालों की सेवा में उत्तर तलाशते प्रश्न' पढ़ने में आये। साथ ही 'जैन गजट' के कई अंकों में इसी विषय पर पत्र, समीक्षा व अन्य समाचार पढ़ने को मिलने से, यह आवश्यक समझा गया कि इस विषय पर आगमिक समाधान अवश्य दिया जाना चाहिये, ताकि सभी धर्म-प्रेमियों को वास्तविकता ज्ञात हो सके। अतः इसी आशय से यह प्रयास किया गया है। आइये, हम सभी निष्पक्ष भाव से उपरोक्त विषय पर विचार करते हैं :—

चर्चा नं. 1 — लिंग कितने प्रकार के हैं और उनमें कौन-सा लिंग पूज्य है?

समाधान — आचार्य कुंदकुंद ने दर्शन पाहुड़ में लिंगों का वर्णन इस प्रकार किया है —

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि।। 18।।

अर्थ — दर्शन अर्थात् शास्त्रों में एक जिन भगवान का जैसा रूप है अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनि का लिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिंग और तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका का लिंग ये तीन लिंग कहे हैं, चौथा लिंग दर्शन में नहीं है। उपरोक्त गाथा के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन लिंग माने हैं। लेकिन उन्होंने तीनों लिंगों को समान पूज्य नहीं लिखा। वन्दनीय कौन है, इसके लिए सूत्र पाहुड़ की निम्न गाथाओं को देखें :—

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।। 11।।
जो बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू।। 12।।
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय।। 13।।

अर्थ – जो मुनि संयम से सहित हैं तथा आरंभ और परिग्रह से विरत हैं, वही सुर, असुर और मनुष्यों से युक्त लोक में वन्दनीय हैं।। 11।।

जो बाईस परीषह सहन करते हैं, सैंकड़ों शक्तियों से सहित हैं तथा कर्मो के क्षय एवं निर्जरा में कुशल हैं, ऐसे मुनि वंदना करने योग्य हैं।। 12।।

मुनिमुद्रा के सिवाय जो अन्य लिंगी हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से सहित हैं तथा वस्त्र के धारक हैं, वे इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं।। 13।।

उपरोक्त गाथाओं के अनुसार मुनिलिंग के अलावा अन्य लिंग वंदनीय नहीं हैं। अतः जब वस्त्रधारी वंदनीय (नमोऽस्तु के योग्य) ही नहीं हें, तब उनकी पूजा कैसे की जा सकती है?

चर्चा नं. 2 – आर्यिकाओं को संयमी कहा है या नहीं?

समाधान – वास्तव में आर्यिकायें देश-संयमी की कोटि में हैं, यदि कहीं प्रसंगवश आर्यिका को संयमी या संयत शब्द से संबोधन किया गया भी है, तो वह उपचार महाव्रतो को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। वस्तुतः देश-संयमी, असंयम मार्गणा मे ही आता है। जो निम्न प्रमाणों से स्पष्ट है :–

अ. **ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविह संजमोद्धरणं।**
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण।। 95।। (भाव संग्रह)

अर्थ – उन स्त्रियों के दोनों प्रकार का संयम अर्थात् इन्द्रिय-संयम, प्राणी-संयम नहीं होता है। इसलिये संयम-धारण नहीं होने से उस जन्म से उनको मोक्ष नहीं कहा है।

असंयमी की वंदना के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट लिखते हैं :–

आ. **असंजद ण वंदे वच्छविहीणोवि सो ण वंदिज्ज।**
दुण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। 26।। (दर्शन पाहुड़)

अर्थ – असंयमी को नमोऽस्तु नहीं करना चाहिये, और जो वस्त्र रहित होकर भी असंयमी हैं, वह भी नमस्कार के योग्य नहीं हैं। ये दोनों ही समान हैं। दोनों में एक भी संयमी नहीं हैं।

इ. महाशास्त्र धवल पु. (प्रकाशन सोलापुर – 1992) पृष्ठ 335 पर भगवद् वीर सेनाचार्य, स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं :–

सवासत्वाद् प्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्य विरुद्ध इति चेत्? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

अर्थ – वस्त्र सहित होने से उनके संयतासंयतगुणस्थान होता है। अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका – वस्त्र सहित होते हुये भी उन द्रव्यस्त्रियों के भाव-संयम के होने में कोई विरोध नहीं हैं .

समाधान – उनके भाव-संयम नहीं हैं, क्योंकि अन्यथा, अर्थात् भाव संयम के मानने पर, उनके भाव-असंयम का अविनाभावी-वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

ई. सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद अध्याय–9 सूत्र-1 की टीका में लिखते हैं –

असंयमस्त्रिविधः। अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानोदय विकल्पात्।

अर्थ – असंयम के तीन भेद हैं – अनंतानुबंधी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय और प्रत्याख्यानावरण का उदय। आर्यिकाओं व क्षुल्लकों के पंचम गुणस्थान होता है, उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय सतत रहता है। अतः उनको असंयमी कहा जाता है।

उ. 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द अधिकार-3 गाथा 224-7 में इस प्रकार कहते हैं :–

लिंग हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकखपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं, कह संजमो होदि।। 224-7।।

अर्थ – स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनिस्थान में, स्तनों के नीचे, नाभि-प्रदेश तथा काँख-प्रदेश में सूक्ष्मजीवों की उत्पत्ति कही गयी है, इस कारण से उनके संयम कैसे हो सकता है।

चर्चा नं. 3 – स्त्रियों में दीक्षा कही है या नहीं?

समाधान – आचार्य कुन्दकुन्द सूत्र पाहुड़ में लिखते हैं :–

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा।। 24।।

अर्थ – स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि और काँख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव कहे गये हैं, अतः उनके प्रवज्या (दीक्षा) कैसे हो सकती है?

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रव्रज्या का लक्षण इस प्रकार दिया है :–

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। 51।। (बोध पाहुड़)

गाथार्थ — जो तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न रूप से सहित है, जिसमें भुजाएँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं, जो शस्त्र से रहित हैं अथवा प्रासुक प्रदेशों पर जिसमें गमन किया जाता है, जो शान्त है तथा दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में जिसमें निवास किया जाता है, वह जिन-दीक्षा कही गई है।

चर्चा — यदि स्त्रियों में दीक्षा नहीं होती है तो उन्हें पंच-महाव्रत क्यों दिये जाते हैं?

समाधान — यह सत्य है, किन्तु सज्जाति (स्त्री पर्याय के व्रतों की उत्कृष्टता) को बतलाने के लिए महाव्रतों का उपचार होता है, यथार्थ में महाव्रत न होने पर भी उनकी स्थापना की जाती है।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया।। 25।। (सूत्रपाहुड़)

अर्थ — यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तो वह भी मार्ग से युक्त कही गई है। फिर भी कठिन चरित्र का आचरण करते हुये भी स्त्रियों के प्रव्रज्या (दीक्षा) नहीं कही गई है।

देशप्रतान्वितैस्तासा मारोप्यन्ते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ।। 89।। (आचार-सार)

अर्थ — इसलिये बुद्धिमानों के द्वारा उन आर्यिकाओं के सज्जाति के ज्ञप्ति के लिये उपचार से देशव्रतों से युक्त, महाव्रत आरोपण किये जाते हैं।

कर्मकाण्ड गाथा 787 में पंचम गुणस्थानवर्ती के (भले ही वह आर्यिका, क्षुल्लक आदि हो) बंध के तीन प्रत्यय बताये हैं। गाथा इस प्रकार है :—

चदुपच्चइगो बंधो पढ़मे णंतरतिगे तिपच्चइगो।
मिस्सगबिदियं उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्मि।। 787 ।।

मिथ्यादृष्टि के 4 प्रत्ययों से बंध होता है, उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व के बिना 3 प्रत्ययों से ही बंध है, किन्तु एक देश असंयम के त्यागने वाले देश संयम गुणस्थान में दूसरा अविरत प्रत्यय विरत कर मिला हुआ है तथा आगे दो प्रत्यय पूर्ण ही हैं। इस प्रकार पाँचवे गुणस्थान में तीनों (अविरति, कषाय, योग) कारणों से बंध होता है।

वास्तविकता तो यह है कि आर्यिकाओं के संपूर्ण 28 मूलगुण ही नहीं होते। उनके वस्त्र धारण करने के कारण स्पर्शन इन्द्रियजय, अपरिग्रह-महाव्रत तथा नग्नत्व ये तीन मूलगुण नहीं होते। बैठकर आहार लेने से एक मूलगुण नहीं होता। पूर्ण रूप से अहिंसा महाव्रत नहीं होता। मासिक धर्म के उपरांत स्नान से ही शुद्धि होती है, अतः इनके अस्नान मूलगुण भी अखंड नहीं पलता। मूलगुण ही जब पूरे नहीं हैं तो उनको मुनियों के समान पूज्य कैसे माना जा सकता है?

उपरोक्त सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि आर्यिकाओं को संयमी नहीं कहा जा सकता है।

चर्चा नं. 4 – क्या आर्यिका पूज्य है?

समाधान – हमारे पूज्य नवदेवता होते हैं :– 1. अरिहंत, 2. सिद्ध, 3. आचार्य, 4. उपाध्याय, 5. साधु, 6. जिनधर्म, 7. जिनागम, 8. जिनचैत्य, 9. जिनचैत्यालय।

अरहंत सिद्ध साहू तिदयं जिण धम्म वयण पडिमाहू।
जिणणिलया इदिराए, णवदेवा दिन्तु में वोहि।।

(रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक 119 टीका पं. सदासुखदास जी)

अर्थ – अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनप्रतिमा, जिनालय इस प्रकार ये नवदेवता हैं 'ते मोकूं रत्नत्रय की पूर्णता देओ।' इनमें आर्यिका या क्षुल्लक आदि को कोई स्थान नहीं है। हम वीतराग प्रभु की पूजा करने वाले उनकी पूजा कैसे करें, जिनके पास अभी सोलह हाथ की साड़ी रूप परिग्रह हो या जिन्होंने अभी पाँच पापों का भी पूर्णतया त्याग न किया हो।

ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं कि आर्यिका पीछी आदि संयम के उपकरण रखती हैं, इसलिये पूज्य हैं। यह बात भी सिद्ध नहीं होती। वास्तव में पीछी से पूज्यता नहीं आती। पूज्यता तो गुणों से आती है। तीर्थंकर के भी मुनि-अवस्था में पीछी नहीं होती। चारणऋद्धिधारी मुनि भी पीछी नहीं रखते हैं। वास्तव में गुणों से युक्त पीछीधारी को पूज्यता आती है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि आर्यिकादि देशसंयमी की कोटि में आती हैं और वे मुनिवत् पूजा के योग्य नहीं हैं।

चर्चा नं. 5 – क्या आगम में उपचार से महाव्रती मानने पर, उनको मुनि-तुल्य मानना उचित है?

समाधान – कोई उपचार से महाव्रती मानकर आर्यिकाओं को पूजा के योग्य कहते हैं, जो कथन उचित नहीं है। क्योंकि उपचार से महाव्रत तो आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावक के भी कहा है। जो निम्न प्रमाण से स्पष्ट है :–

अ. **प्रत्याख्यान तनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः।**

सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते।। 71।। (रत्नकरंडक श्रावकाचार)

अर्थ – प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मंद उदय होने से अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त हुये, यहाँ तक कि, जिनके अस्तित्व का निर्धारण करना भी कठिन है, ऐसे चरित्र मोह के परिणाम महाव्रत के व्यवहार के लिये उपचारित होते हैं – कल्पना किये जाते हैं।

आ. जैसाकि सर्वार्थसिद्धि अध्याय-7 सूत्र-21 की टीका में इस प्रकार कहा गया है :–

इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यं। कुतः? अणुस्थूलकृतहिंसादि निवृतेः। संयम प्रसंग इति चेत्। न, तदघातिकर्मोदय सदभावात्। महाव्रतत्वाभाव इति चेत्। तन्न, उपचाराद् राजकुले सर्वगत चैत्राभिधानवत्।

अर्थ –, इतने देश में और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिक में स्थित पुरुष के पहले के समान महाव्रत जानने चाहिये, क्योंकि इनसे सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है।

शंका – यदि ऐसा है, तो सामायिक में स्थित हुये पुरुष के सकल संयम का प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि इसके संयम का घात करने वाले कर्मो का उदय पाया जाता है।

शंका – तो फिर इसके महाव्रत का अभाव प्राप्त होता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि जैसे राजकुल में चैत्र (बौद्ध भिक्षु) को सर्वगत उपचार से कहा जाता है उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचार से जानना चाहिये।

आ. सागार धर्मामृत के अध्याय – 5/4 में इस प्रकार कहा है–

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः।

महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम्।। 4।।

अर्थ – अणुव्रती का प्रत्याख्यानावरण जनित चारित्र मोह का उदय अतिशय

मन्दता के कारण किसी लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये दिग्व्रत का पालक अणुव्रती दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर महाव्रती कहा जाता है।

इ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक 160 में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं :–

इत्थमशेषित हिंसः, प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्र मोहे, लभते तु न संयम स्थानम्।। 160।।

अर्थ – इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकार की हिंसाओं से मुक्त होने से वह श्रावक उस समय उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है, किन्तु चारित्र मोह कर्म के उदय से वह संयम स्थान को नहीं पाता है।

ई. श्रावकाचार-संग्रह भाग-1, पृष्ठ-245 पर लिखते हैं कि :–

हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्त चित्तोऽभ्यन्तर प्रत्याख्यान संयम घाति कर्मोदय जनित मन्दाविरति परिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपर्चते। (चरित्र-सार)

अर्थ – यद्यपि उसके भीतर संयम का घात करने वाले **प्रत्याख्यानावरण** कषाय रूप कर्म के उदयजनित मंद अविरत परिणाम पाये जाते हैं, तथापि हिंसादिक सर्वसावद्य योग में अनासक्त चित्त होने से उसके अणुव्रतों को उपचार से महाव्रत कहा जाता है।

उ. प्रवचनसार-गाथा नं. 224-8 (अनेकांत विद्वत् परिषद् प्रकाशन) पृष्ठ 530

अथमतम् – यदि मोक्षोनास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्? परिहारमाह – तदुपचारेण कुल व्यवस्था निमित्तं। न चोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति, अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् तथा चोक्तम्–मुख्याभावे सति प्रयोजन निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते।

शंका – यदि स्त्रिया को मोक्ष नही होता तो आपके मत में किसलिए आर्यिकाओ को महाव्रतों का आरोपण किया गया है?

समाधान – यह उपचार कथन, कुल की व्यवस्था के निमित्त कहा है। जो उपचार कथन है वह साक्षात् नहीं होता। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टांत में अग्नि का मात्र दृष्टांत है, देवदत्त साक्षात अग्नि नही। इसी तरह स्त्रियों के महाव्रत जैसा आचरण है, महाव्रत नही, क्योंकि मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन तथा निमित्त के वश उपचार-प्रवर्तता है, ऐसा आर्ष वाक्य है।

इसके अलावा अन्य बहुत से श्रावकाचारों में श्रावक को उपचार से मुनि

तुल्य कहा है, तो क्या सभी प्रतिमाधारकों की मुनि की तरह नवधा-भक्ति की जाये? कदापि नहीं।

आर्यिकाओं के लिये प्रवचनसार-गाथा 224 के उपरान्त 9 गाथाओं में यह स्पष्ट है कि ये मुनितुल्य क्यों नहीं हैं? ये प्रमाद से भरी हुई होती हैं, इनके चित्त में निश्चय से मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा चित्त में माया होती है, कोई *भी स्त्री निर्दोष नहीं पायी जाती, उनके चित्त में काम का उद्रेक, शिथिलपना, मासिक-स्राव का बहना, सूक्ष्म जीवों की हिंसा पाई जाती है आदि।*

चर्चा नं. 6 — क्या आर्यिका आदि की नवधा-भक्ति का उल्लेख मिलता है?

समाधान — इस प्रश्न के उत्तर में हमारी तो निष्पक्ष राय है कि किसी भी शास्त्र में आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति करने का उल्लेख नहीं है। व्यर्थ परिश्रम करके आर्यिका की नवधा-भक्ति सिद्ध करने का प्रयास क्यों किया जाता है? सभी आचार्यों ने मुनियों की ही नवधा-भक्ति करने का विधान मात्र ही किया है। जो अर्थापत्ति न्याय से यह सिद्ध करता है कि अन्य कोई भी पात्र या व्रती वगैरह नवधा-भक्ति के योग्य नहीं हैं। नवधा-भक्ति कहाँ-कहाँ नहीं करनी चाहिये? इसका उल्लेख कैसे करना संभव है? करुणादान से पहले, कन्यादान से पहले, समदत्ती दान से पहले, नवधा-भक्ति की जाये या नहीं, यह भी आचार्यो ने कहीं नहीं लिखा है, तो क्या इन दानों के पूर्व नवधा-भक्ति होनी चाहिये, क्योंकि निषेध तो किया नहीं है? और भी, शास्त्रों में नवदेवता की अष्टद्रव्य से पूजा का विधान तो लिखा है, पर अपने पुत्र की, अपनी पत्नी की, अपनी कन्या की तथा अपनी पुत्रवधू आदि की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं करनी चाहिये, यह कहीं नहीं लिखा है तो क्या इनकी भी अष्टद्रव्य से पूजा होनी चाहिये क्योंकि निषेध तो लिखा नहीं है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार वर्णन नहीं किया जाता। जहाँ जो कार्य करना होता है, उसका वर्णन किया जाता है। जो यह भी बताता है कि उसे अन्य प्रसंगों में नहीं करना चाहिये। इस विषय में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि की नवधा-भक्ति-पूर्वक आहार देने तथा आहार के समय पाद-प्रक्षालन, अर्घ-समर्पण आदि करने का एक भी प्रसंग किसी भी पौराणिक ग्रंथ में देखने में नहीं आया, जबकि मुनियों की जहाँ कहीं भी आहारचर्या का प्रसंग आया है, पुराण-ग्रंथों में उनकी पूजा आदि का भी स्पष्ट उल्लेख है। यदि पुराणकारों को आर्यिका आदि की, मुनियों की

तरह, नवधा-भक्ति इष्ट होती, तो कहीं न कहीं उसका उल्लेख अवश्य किया जाता, जबकि ऐसा कहीं भी नहीं है।

यह बात कितनी विचित्र लगती है कि उपचार से महाव्रत धारण करने वाली आर्यिकाओं को अपनी पूजा, परिक्रमा आदि बाह्य मान-मर्यादा का इतना *अधिक आग्रह है कि जहाँ इस प्रकार उनकी भक्ति का प्रदर्शन न हो वहाँ के सुश्रावकों से शुद्ध आहार लेना भी उन्हें स्वीकार नहीं होता। जो जबरन अपने* अर्घ चढ़वाएँ, अपनी नवधा-भक्ति करायें, क्या उन्हें आर्यिका कहा जा सकता है?

चर्चा नं. 7 – क्या तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा-भक्ति होनी चाहिये?

समाधान – कुछ लोगों का कहना है कि तीनों प्रकार के पात्रों को नवधा-भक्ति पूर्वक ही आहार देने का विधान है। अतः नवधा-भक्ति होना ही चाहिये। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो किसी भी श्रावकाचार में तीनों प्रकार के पात्रों की सामान्यरूप से नवधा-भक्ति करने का उल्लेख ही नहीं है। सर्वत्र उनकी यथा-योग्य भक्ति का ही उल्लेख है। जिन ग्रंथों में इनका उल्लेख है भी, वे एकदम अर्वाचीन हैं (दानशासन, सुधर्मश्रावकाचार, श्रमण संघ संहिता), उन्हें प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। कहा है :–

जघन्य मध्यमोत्कृष्ट पात्राणां गुण शालिनां।
नवधा दीयते दानं यथा योग्यं सुभक्तितः।। श्रमण संघसंहिता पृ. 241।।

अर्थ – गुणवान जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों को भक्तिपूर्वक यथायोग्य नवधा-भक्ति से दान देना चाहिये।

उनमें अन्य भी आगम-विरूद्ध कई बातें हैं। इस श्लोक के अनुसार, दूसरी बात यदि हम यथायोग्य भक्ति न कर सामान्य रूप से नवधा-भक्ति करते हैं तो जघन्य-पात्र असंयत सम्यग्दृष्टि और ब्रह्मचारी भाई-बहिनों की भी नवधा-भक्ति करने का प्रसंग आता है। अतः आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि की नवधा-भक्ति का आग्रह आगम के अनुकूल न होकर मिथ्यात्व का सम्पोषक है।

क्षुल्लकों के बारे में जैन गजट दि. 24.04.1997 में इस प्रकार छपा था–"क्षुल्लक ऐषणादोष से रहित एक बार भोजन करें। दाढ़ी, मूँछ तथा सिर के बालों को उस्तरे से मुँडवावें, अतिचार लगने पर प्रायश्चित करें। निर्दिष्ट काल में भोजन के लिये भ्रमण करें। भ्रमर की तरह 5 घरों में से पात्र में भिक्षा लेकर, उनमें

से किसी एक घर में प्रासुक जल देखकर कुछ क्षण अतिथिदान के लिये प्रतीक्षा करें। यदि दैव-वश पात्र प्राप्त होता हो तो उसे गृहस्थ की तरह दान दें। शेष बचे उसे स्वयं खावें, अन्यथा उपवास करें।" (सागार धर्मामृत 16/49 विशेषार्थ)

जब इस प्रकार क्षुल्लक पॉच घर से भिक्षा लाकर भोजन करता है तब उनकी नवधा-भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठ पाता।

कोई आर्यिकाओं को उत्कृष्ट पात्र में ही उपचार से मानते हैं। उनकी ऐसी मान्यता बिल्कुल आगम-सम्मत नहीं है। सभी आचार्यो ने उत्तम पात्र में मात्र परिग्रह-रहित मुनियों को ही लिया है। उदाहरण के लिये आचार्य कुन्दकुन्द की 'बारसाणुपेक्खा' गाथा नं. 17, 18 का अवलोकन करें।

> **उत्तम पत्तं भणियं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।**
> **सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिम पत्तो हु विण्णेयो।। 17।।**
> **णिद्दिट्ठो जिण समये, अविरद सम्मो जहण्ण पत्ते त्ति।**
> **सम्मत्त रयण रहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो।। 18।।**

अर्थ – सम्यग्दर्शन से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा है और सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिये।। 17।।

जैन-आगम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य-पात्र कहा है और जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित है, वह अपात्र है। इस प्रकार पात्र की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये।

उपरोक्त गाथाओं से बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्यिकाओं को उत्तम-पात्र कहना बिल्कुल आगम-सम्मत नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनि को ही उत्तम-पात्र माना है।

चर्चा नं. 8 – प्रथमानुयोग में 'पूजा' शब्द का प्रयोग, किस अर्थ में हुआ है?

समाधान – कुछ लोग पुराण ग्रंथों में आये कुछ प्रसंगों का उल्लेख आर्यिका, क्षुल्लक आदि की पूजा के प्रमाण-स्वरूप कहते हैं, लेकिन उन प्रमाणों का अर्थ भी नवधा-भक्ति नहीं है। जहॉ कहीं भी क्षुल्लक आदि के अर्घ्य अथवा पूजा का प्रसंग आया है, वह उनके सम्मान के अर्थ में ही लिया गया है। पूजा का अर्थ सम्मान और सत्कार भी होता है। आये हुये सत्पात्र का सत्कार करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है, किन्तु सत्कार और पूजा अलग-अलग हैं। पूजा का अर्थ आराधना है, जबकि सत्कार शिष्टाचार का अंग है। यदि ऐसा न माना जाए, तो उन्हीं

पुराणों में अनेक स्थानों पर अव्रती स्त्रियों तथा राजा-महाराजाओं की पूजा और अर्घ्य का भी उल्लेख है। क्या इस कथन से उनकी पूजा को पंचपरमेष्ठी की पूजावत् पूजा मानेंगे? तिलोयपण्णत्ति में कुलकरों की पूजा का भी उल्लेख है। क्या व्रत और संयम रहित कुलकरों की मुनियों की तरह पूजा करना जैनधर्म के अनुकूल है?

अ. **सोऊण तस्सवयणं, संजादाणिब्भया तदा सव्वे।**
अच्चंति चलण-कमले, थुणंति बहुविह-पयारेहिं।। 436।।
(तिलोयपण्णत्ति अधिकार 4)

अर्थ — इस प्रकार उन (प्रतिश्रुति/कुलकर) के वचन सुनकर वे सब नर-नारी निर्भय होकर बहुत प्रकार से उनके चरण-कमलों की पूजा और स्तुति करते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने मातंग चांडाल तथा धनदेवादिक की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

आ. **मातंगो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।**
नीली जयश्च संप्राप्ता, पूजातिशयमुत्तमम्।। 64।। (रत्नकरंडक श्रावकाचार)

अर्थ — मातंग (यमपाल) चांडाल, धनदेव, वारिषेण राजकुमार, नीली और जयकुमार, ये क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुये हैं। (क्या इस श्लोक में पूजा का अर्थ जिनेन्द्र-पूजा के समान, पूजा है?)

इ. आदि पुराण में इस प्रकार वर्णन है :—

ततस्तौ जगतां पूज्यो पूजयामास वासवः।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकै।। 78।। पर्व 14

अर्थ — तत्पश्चात् इन्द्र ने नाना प्रकार के आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रों से उन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा की।

क्या उपरोक्त श्लोक में पूजा का अर्थ अनर्घपद की कामना से की जाने वाली पूजा है, या इन्द्र के मन में भगवान के माता-पिता के प्रति उमड़े आदर-भाव की अभिव्यक्ति है?

ई. भगवान ऋषभदेव के प्रथम आहार के उपरान्त राजा श्रेयांस की पूजा का उल्लेख करते हुये हरिवंश पुराणकार (आ. जिनसेन) ने लिखा है :—

अभ्यर्चिते तपोवृद्धयैः धर्म तीर्थंकरे ।
दानतीर्थकरं देवाः साभिषेकमपूजयन्। (सर्ग-9, श्लोक 196 हरिवंश पुराण)

अर्थ – पूजा होने के बाद जब धर्म तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तपकी वृद्धि के लिये वन को चले गये, तब देवों ने अभिषेक-पूर्वक दान तीर्थंकर-राजा श्रेयांस की पूजा की।

क्या देवताओं द्वारा की गई राजा श्रेयांस की यह पूजा जैनागम मान्य जिन पूजावत् है? क्या देवों ने भगवान की तरह राजा श्रेयांस का अभिषेक और पूजन किया था? इतना ही नहीं, आदि-पुराण के अनुसार तो सम्राट भरत ने राजा श्रेयांस को भगवान की तरह पूज्य भी कहा है :–

ड. **अदृष्टं पूर्व लोकेऽस्मिन्, दानं कोऽर्हति वेदितुम्।**
भगवानिवपूज्योसि, कुरूराजत्वमद्य नः।। (सर्ग 20, श्लोक 127)

अर्थ – इस संसार में पहले कभी नहीं देखी हुई इस दान की विधि को कौन जान सकता है? हे कुरूराज! आज तुम हमारे लिये भगवान के समान ही पूज्य हुये हो।

चक्रवर्त्ती के द्वारा राजा श्रेयांस के लिये दिया गया यह संबोधन उनके प्रति उत्कृष्ट सम्मान का सूचक है या भगवान की तरह पूज्यता का?

अतः स्पष्ट है कि उक्त सभी संदर्भों में प्रयुक्त 'पूजा' शब्द सत्कार और सम्मान का वाची है न कि आराधना का, अन्यथा अव्रतीकुलकर और मातंग चांडाल से लेकर राजा श्रेयांस तक की पूजा का प्रसंग आता है। दिगम्बर मुनि के अतिरिक्त अन्य जितने भी लिंगी (क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका) हैं, वे आदर और सत्कार के तो पात्र हैं, पर अष्ट-द्रव्य से पूजा के नहीं। पूजा मात्र निर्ग्रन्थों की ही होती है। इसलिये मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति "ॐ ह्रीं श्री .... अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्य निर्वपामीति स्वाहा" बोलकर अर्घ्य चढ़ाना या चढ़वाना या पूजा कराना/करवाना आगम का अपलाप है।

प्रथमानुयोग के जो ग्रंथ भट्टारकों द्वारा लिखे गये हैं, उनमें स्वयं को पूजा के योग्य बनाने के लिए जबरन क्षुल्लकों को अर्घ्य देना उल्लिखित कर दिया है–उदाहरण नीचे देखें :–

अ. प्रद्युम्न-चरित्र सर्ग-3 श्लोक 112 पृष्ठ 13-14

श्रीकृष्ण ने क्षुल्लक पद के धारी नारद के पाद-प्रक्षालन कर अर्घ्य चढ़ाया।

समीक्षा – इसी प्रसंग को हरिवंश-पुराणकार ने सर्ग-42, श्लोक 8-9 में इस प्रकार लिखा है :–

द्वारिका विभवालोक स्वशिरः कम्प विग्रहम्।

तेऽवतीर्णं तमालोक्य, सह सोत्थाय पार्थिवाः (8)

नमस्यासन दानादि सोपचारेण सक्रमम्।

पूजयन्तिस्मसंमान मात्रेण परितोषिणम् (9)

अर्थ (पं. पन्नालाल जी कृत) – द्वारिका का वैभव देख आश्चर्य से जिनका सिर तथा शरीर कम्पित हो रहा था, ऐसे नारद जी को आकाश से नीचे उतरते देख सब राजा लोग सहसा उठकर खड़े हो गये।

सम्मान-मात्र से संतुष्ट होने वाले नारद जी को सबने नमस्कार तथा आसन-दान आदि उपचारों से क्रमपूर्वक सम्मान किया।

आ. प्रद्युम्न-चरित्र सर्ग-8, पृष्ठ 157

विजयार्द्ध के मेघकूट नरेश महाराज कालसंवर ने नारद के पाद-प्रक्षालन कर अर्घ्य चढ़ाया।

समीक्षा – हरिवंश-पुराण सर्ग-43, श्लोक-228 पर यह प्रसंग इस प्रकार है :–

प्रणामेनार्चितस्तेषां, दत्वाशिष मति द्रुतम्।

वियदुत्पत्य संप्राप्तो, द्वारिकां नारदो मुनिः।। 228।।

अर्थ – कालसंवर आदि ने नमस्कार कर नारद का सम्मान किया, तदनन्तर आशीर्वाद देकर वे आकाश में उड़कर द्वारिका आ पहुँचे।

प्रथमानुयोग में महाराज भरत के द्वारा चक्ररत्न की पूजा का प्रसंग भी लिखा है, जिसका अर्थ होता है कि केवल मांगलिक-क्रिया सम्पन्न की। सभी चक्रवर्त्ती चक्ररत्न की पूजा करते हैं। वास्तव में चक्रवर्त्ती क्या करता है, इसके लिये तिलोयपण्णति भाग-2 की गाथा नं. 1315 को देखें :–

चक्कुप्पत्ति पहित्ता, पूजं कादूर्ण जिणवरिंदाणं।

पच्छा विजय-पयाणं, ते पुव्व-दिसाए कुव्वदि।।

अर्थ – चक्र की उत्पत्ति से अतिशय हर्ष को प्राप्त हुये वे चक्रवर्त्ती जिनेन्द्रों की पूजा करके, पश्चात् विजय के निमित्त पूर्व दिशा में प्रयाण करते हैं। (जिस बात का प्राचीन आगम स्पष्ट मिल रहा हो, उस विषय में अर्वाचीन कथन समीचीन नहीं माना जा सकता)।

वास्तव में क्या चक्ररत्न जैसी जड़वस्तु की, जिनेन्द्र पूजा की तरह, पूजा आगम-मान्य हो सकती है? क्या भरत चक्रवर्ती जैसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस

प्रकार की जड़ वस्तु की, जिनेन्द्र भगवान् की तरह पूजन कर सकता है? कभी नहीं।

चर्चा नं. 9 – चारित्र चक्रवर्त्ती आ. शांतिसागर जी महाराज के संघ में क्षुल्लक तथा क्षुल्लिकाओं की नवधा-भक्ति की क्या परंपरा थी?

समाधान – चारित्र चक्रवर्त्ती पूज्य आ. शांतिसागर जी महाराज के संघ में कभी-भी क्षुल्लक आदि को अर्घ्य चढ़ाने की परम्परा नहीं थी। उन्होंने अपने क्षुल्लक-ऐलक अवस्था में कभी अर्घ्य नहीं चढ़वाये। इसके समाधान में कृपया अजितमति-साधना-स्मृति ग्रन्थ (लेखिका ब्र. रेवती दोसी) के पृष्ठ 33 पर प्रकाशित आचार्य शांति सागर जी से दीक्षित सबसे अन्तिम क्षुल्लिका अजितमति जी के साथ प. प्रवीण चन्द्र के किये गये प्रश्नोत्तरों को देखने का कष्ट करें। (क्षुल्लिका माताजी की समाधि सन् 1991 में हो चुकी है)।

पंडितजी – रजस्वला अवस्था में आर्यिका या क्षुल्लिकाओं को पीछी लेने के लिये आचार्य महाराज की अनुमति थी या नहीं?

अम्माजी – नहीं! हम लोग उस अवस्था में मृदु वस्त्र इस्तेमाल करते थे। (देखें जैन-गजट दि. 7-3-1991 – अंतिम पृष्ठ पर छपा है "आचार्य श्री के संघ में (अर्थात् चा. चक्रवर्त्ती प. आचार्य शांतिसागर जी महाराज के संघ में) क्षुल्लिकायें, आर्यिकायें, अशुचि अवस्था में पीछियाँ ग्रहण नहीं करती थीं")

पं. जी का प्रश्न – क्षुल्लिका/क्षुल्लक को पड़गाहन कर लेने के बाद चौके में उनके पाँव धोने की परम्परा आपके संघ में है या नहीं?

अम्माजी का समाधान – नहीं, क्षुल्लिकाओं के धातुओं के कमण्डलु में पानी नहीं रहता, उनके पाँव उन्हें चौके में ले जाने के पहले धोने चाहियें। क्षुल्लक के बारे में तो सवाल ही नहीं उठता। उनके लकड़ी के कमण्डलु में श्रावकों के द्वारा दिया गया सोले का जल होता है। वे स्वयं चौके के बाहर अपने पाँव धोते हैं।

इस प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट होता है कि चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आ. शांतिसागर जी महाराज के संघ में क्षुल्लकों आदि के पाद-प्रक्षालन आदि की परम्परा नहीं थी। वे क्षुल्लक के पाद प्रक्षालन को आवश्यक नहीं मानते थे। क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी ने भी कभी अपना पाद-प्रक्षालन आदि नहीं कराया। वर्णी मनोहर लाल जी भी कभी अपना पाद-प्रक्षालन नहीं कराते थे।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि आर्यिका एवं क्षुल्लक आदि संयमी की कोटि में नहीं आते। वे देश-संयमी हैं और मुनिवत् पूज्य नहीं हैं। अतः नवधा-भक्ति के अधिकारी सिद्ध नहीं होते। उनकी नवधा-भक्ति करने का कोई विधान किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता। आर्यिका आदि को अर्घ्य देने की परम्परा भी चा. चक्रवर्त्ती आ. शान्तिसागर जी के संघ में नहीं थी। अतः यह परम्परा न तो मूलरूप से गुरु-परम्परा है और न आगम-परम्परा है।

चर्चा नं. 10 – आगम-परम्परा तथा गुरु-परम्परा में कौन-सी परम्परा अधिक ग्रहणीय है?

समाधान – विवेकियों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन आगम-परम्परा एवं गुरु-परम्परा में, आगम-परम्परा उत्कृष्ट है, गुरु-परम्परा नहीं। जो गुरु-परम्परा आगम-सम्मत नहीं है, उसके बदलने में हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिये।

चा. च. आचार्य शांतिसागरजी महाराज, गुरु-परंपरा न मानते हुये आगम-परंपरानुसार ही चर्या करते थे। चारित्र चक्रवर्त्ती ग्रंथ पृष्ठ 412 पर लिखा है :– "आचार्य महाराज को क्षुल्लक पद प्रदान करने वाले मुनि देवप्पा स्वामी के समय में मुनि पद में बहुत शिथिलता थी। उस समय देवप्पा स्वामी आहार को जाते थे, पश्चात् दातार से सवा रुपया लेते थे। आचार्य महाराज ने क्षुल्लक पद में भी ऐसा नहीं किया। इस पर देवप्पा स्वामी कहते थे—तुम रुपया लेकर हमें दे दिया करो। आगमप्राण आचार्य महाराज को यह बात अनिष्ट लगी अतः महाराज ने देवप्पा स्वामी (अपने दीक्षा गुरु) का साथ छोड़ दिया था।"

इसके अलावा और भी बहुत उदाहरण स्पष्ट बताते हैं कि गुरु-परम्परा की बजाय आगम-परम्परा का अनुसरण ही श्रेष्ठ है।

चर्चा नं. 11 – क्या आर्यिका यदि अर्घ्य चढ़वाकर ही आहार करे, तो उसकी चारित्र की विशुद्धि में अंतर पड़ता है?

समाधान – यह भी स्पष्ट है कि अर्घ्य चढ़वाने पर ही यदि कोई आर्यिका आहार ग्रहण करती है, तो उससे उस आर्यिका के गुणस्थान में या चारित्र में या चरित्र की विशुद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी इस परम्परा पर जोर देने का क्या औचित्य है? पू. आर्यिकाओं से निवेदन है कि कोई उन्हें आहार के पूर्व अर्घ्य ने चढ़ाये तो उनको इसमें कुछ भी अंतर न मानकर आहार ग्रहण कर लेना चाहिये।

चर्चा नं. 12 – आर्यिकाओ क्रे लिये समवशरण में कोठे का विधान।

समाधान – समवशरण में भी पुरुषों के लिए कोठा नं. 1 और कोठा नं. 11 दिया गया है अर्थात् मुनिराज को अलग और श्रावकों को अलग, पर स्त्रियों में आर्यिकाओं और श्राविकाओं को एक ही कोठा दिया गया है। जो इस बात का परिचायक है कि आर्यिकायें मुनि-तुल्य नहीं होती, वरना उनको भी अलग कोठा दिया जाता।

चर्चा नं. 13 – क्या आर्यिकाओं द्वारा आचार्य या मुनिराज के चरणस्पर्श करना आगम-सम्मत है?

समाधान – आर्यिका यदि आचार्य आदि के पास आलोचना आदि करने जाती हैं, तो कैसे करती हैं, इस संबंध में श्री मूलाचार-गाथा 195 इस प्रकार है :–

पंच छ सत्त हत्थे, सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ, गवासणेणेव वंदंति।। 195।।

अर्थ – आर्यिकायें आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर, गवासन से ही वंदना करती हैं।

आचारवृत्ति – आर्यिकायें आचार्य के पास आलोचना करती हैं, अतः उनकी वंदना के लिये पाँच हाथ के अंतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती हैं। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है, अतः उन्हें छह हाथ के अंतराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है। अतः वे सात हाथ के अंतराल से उन्हें नमस्कार करती हैं, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

मूलाचार-प्रदीप श्लोक नं. 2313-2314 में भी इसी प्रकार वर्णन है। आचार-सार श्लोक नं. 85 अधिकार-2 में भी लिखा है –

नमन्ति सूर्योपाध्याय साधूनार्या यथाक्रमम्।
पंचषट्सप्तहस्तान्तरालस्थाः पशुशय्याः।। 85।।

अर्थ – आर्यिका गवासन से आचार्य, उपाध्याय और साधु को यथाक्रम से पाँच, छह और सात हाथ के अन्तराल (दूरी) में स्थित होकर नमस्कार करती हैं।

उपरोक्त सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यिका को आचार्य या मुनि के चरणस्पर्श कदापि नहीं करने चाहियें। वर्त्तमान में जो आर्यिकायें अपने आचार्य या अन्य मुनि के चरणस्पर्श करती हैं, उनका ऐसा करना, आगम-सम्मत नहीं है।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं का सारांश यही है कि आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति न तो मूलगुरुपरंपरा है और न आगम-सम्मत ही है। उपरोक्त लेख के द्वारा पूज्य आर्यिकाओं की विनय या सम्मान में कोई कमी करने का आशय रन्च मात्र भी नहीं है। यह सत्य है कि श्राविकाओं से आर्यिकायें महान् हैं। मैं स्वयं बहुत से आर्यिका संघों में जाता हूँ और भक्तिभाव से उनका दर्शन व विनय करता हूँ। यह भी आशय नहीं है कि आर्यिकाओं व श्राविकाओं में कोई अन्तर न माना जाये। कहना मात्र इतना है कि पूज्य आर्यिकायें, मुनितुल्य संयमी या मुनिवत् पूजा के योग्य नहीं हैं।

जिस प्रकार आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति आगम-सम्मत सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार सज्जातित्व की वर्त्तमान परिभाषा भी आगम-उल्लिखित नहीं है। क्षेत्रपाल-पद्मावती की पूजा भी आगम-सम्मत नहीं है। अतः नम्र निवेदन यही है कि इन सब परम्पराओं को छोड़कर आगम-परम्पराओं को अपना लिया जाये और यदि ऐसा करने का साहस न कर सकें तो कम से कम आगम के अनुसार चलने वालों पर आक्षेप करना तो बंद होना चाहिये। हमें तो आगम ही शरण है।

—1/205, प्रोफेसर्स कालोनी
हरीपर्वत-आगरा-282002

यशपाल जैन का निधन

नागदा—10 अक्टूबर 2000 गांधीवादी विचारधारा के पोषक लोकप्रिय साहित्यकार श्री यशपाल जैन के निधन से देश के साहित्यिक जगत की अपार क्षति हुई है। श्री जैन उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, यात्रावृत्तान्त, नाटक, कविता आदि सभी विधाओं में निष्णात थे। सम्प्रति सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित "जीवन साहित्य" लोकप्रिय पत्रिका के सम्पादक भी थे। वीर सेवा मंदिर से उनका आत्मीय भाव था। यह संस्था दिवंगत आत्मा की सद्गति के लिए कामना करती है।

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मंदिर

भक्तामर-स्तोत्र की मनोवैज्ञानिक भूमिका

—डॉ. जयकुमार जैन

भारतीय मनीषियों के अनुसार काव्य का प्रयोजन मात्र प्रेय एवं ऐहिक ही न होकर श्रेय एवं आमुष्मिक भी है। आचार्य श्रीमन्मानतुङ्ग की अजेय कृति भक्तामर-स्तोत्र में उभयविध प्रयोजन समाहित हैं। धार्मिक साहित्य का अङ्ग होने से जहाँ यह स्तोत्र भक्ति के माध्यम से श्रेय का साधक है, वहाँ दूसरी ओर काव्य-सरणि का अवलम्बन लेने से प्रेय अर्थात् सद्यः परनिवृत्ति में भी सहायक है। काव्यात्मक वैभव एवं भक्त हृदय के महनीय गौरव के कारण संस्कृत वाङ्मय में इसकी स्थिति प्रथम श्रेणी की है।

'स्तोत्र' शब्द अदादि गण की उभयपदी 'स्तु' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ गुणसंकीर्तन है। स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त 'स्तुति' शब्द स्तोत्र का ही पर्यायवाची है। गुणसंकीर्तन आराधक द्वारा आराध्य की भक्ति का एक माध्यम है जो अभीष्ट सिद्धि दायक तो है ही, विशुद्ध होने पर भवनाशक भी होता है। वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि में भक्ति को मुक्तिकन्या से पाणिग्रहण में शुल्क रूप कहा है।[1] अतः स्पष्ट है कि भक्ति शिवेतरक्षति (अमंगलनाश) एवं सद्यः परनिवृत्ति (त्वरित आनन्दप्राप्ति) के साथ परम्परया मुक्ति की भी साधिका है। जैन परम्परा में स्तुति शब्द का प्रयोग अतिप्रशंसा में नहीं अपितु आंशिक गुणानुवाद के रूप में हुआ है। जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए श्री समन्तभद्राचार्य ने लिखा है–

> गुणस्तोकं समुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
> आनन्त्यास्ते गुणाः वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्।। स्वयंभू.।।

अर्थात् थोड़े गुणों को पारकर उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर कहना स्तुति कही जाती है। परन्तु हे भगवान्! तुम्हारे तो अनन्त गुण हैं, जिनका वर्णन करना असंभव है। अतः तुम्हारे विषय में स्तुति का यह अर्थ कैसे संगत हो सकता है।

गुणानुवाद का मूल उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। मनोविज्ञान का यह विचार शाश्वत सत्य है कि संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से भयभीत

है। पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने कहा भी है–'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुखतैं भयवन्त।' सुखप्राप्ति के उपाय के विषय में विषमता दृष्टिगोचर होती है। जड़वादी जहाँ भौतिक सामग्री को सुख का कारण मानते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी तथा मनोवैज्ञानिक इच्छाओं के शमन या अभाव को वास्तविक सुख स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने सुख प्राप्ति का एक सूत्र बताया है –

$$\frac{\text{Achievement (लाभ)}}{\text{Expectation आशा)}} = \text{Satisfaction (संतुष्टि)}$$

अर्थात् लाभ अधिक हो तथा आशा कम हो, तो सुख की प्राप्ति होती है और आशा अधिक हो तथा लाभ कम हो, तो दुःख मिलता है। इस सूत्र का सार यह है कि मनुष्य को आशायें कम करके सुख प्राप्त करना चाहिए। जब आशायें शून्य हो जाती हैं, तो परमानन्द की प्राप्ति होती है। जैनाचार्यों ने भी यही उद्घोष किया है–

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा का विषयैषिता।।'[2]

प्रत्येक प्राणी के समक्ष आशा रूपी गर्त है, जिसमें संसार का वैभव परमाणु के समान है। फिर किसको कितना भाग प्राप्त हो सकता है। अतः विषयों की आशा व्यर्थ है। वादीभसिंहसूरि की तो स्पष्ट अवधारणा है कि आशारूपी समुद्र की पूर्ति आशाओं की शून्यता से ही हो सकती है।[3] भारतीय मनीषियों ने आशा-शून्यता का प्रमुख साधन भक्ति और विरक्ति को माना है। इन दोनों से प्रांणी प्रतिकूल परिस्थिति में भी सुख प्राप्त कर सकता है। जैन स्तोत्रों के रचयिता प्रायः साधुवृन्द हैं, जो आशा-न्यूनता से आशा-शून्यता की ओर अग्रसर रहते हैं। जैनों के आराध्य पञ्चपरमेष्ठियों में भी आशा-न्यूनता एवं आशा-शून्यता की अवस्था को प्राप्त महापुरुष ही हैं। भक्तामर-स्तोत्र के रचयिता एक दिगम्बराचार्य हैं, जो विषयों की आशा नहीं रखकर आशाहीन निराकुल शिवपथ के पथिक हैं। अतः उनके भक्तामर-स्तोत्र में मानव-मानस की मूलप्रवृत्तियों, मनःसंवेगों या भावनाओं का वर्णन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है।

विख्यात मनोवैज्ञानिक मैक्डानल के अनुसार मानव में चौदह मूल प्रवृत्तियॉ (*49**4–) और इतने ही मनःसंवेग (*35**54) पाये जाते हैं –

	मूल-प्रवृत्ति		मनःसंवेग	
1.	पलायन	Escape	भय	Fear
2.	संघर्ष	Combat, Pognacity	क्रोध	Anger
3.	जिज्ञासा	Curiosity	कौतूहल	Wonder
4.	आहारान्वेषण	Food-Seeking	भूख	Appetite
5.	पितृीय	Parental	वात्सल्य	Tender
6.	जाति-बिरादरी	Society	सामूहिकता	Loneliless
7.	विकर्षण	Repulsion	जुगुप्सा	Disgust
8.	काम	Sex, Mating	कामुकता	Lust
9.	स्वाग्रह	Self Assertion	उत्कर्ष	Positive Self Feeling
10.	आत्मदीनता	Submission	अपकर्ष	Nagative Self Feeling
11.	उपार्जन	Acquisition	स्वामित्व	Feeling of Ownership
12.	रचना	Construction	सृजन	Feeling of Construction
13.	याचना	Appeal	दुःख	Feeling of Appealing
14.	हास्य	Laughter	उल्लास	Feeling of Laughing

काव्य या नाट्य के स्थायीभावों के साथ इन मूल प्रवृत्तियों (Instincts) और मनःसंवेगों (Emotions) की अत्यन्त समानता है। मैक्डानल ने मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—कि "वह पितृगत या जन्मजात मानसिक-शारीरिक वृत्ति हैं जो इसके धारणकर्त्ता को एक विशिष्ट विषय का प्रत्यक्षीकरण करने, उसकी ओर अवधान केन्द्रित करने तथा एक संवेगात्मक उत्तेजना की अनुभूति करने से, उस विषय के विशेष गुणयुक्त की संबोधना से उत्पन्न हुई हो और उसी के अनुरूप विशिष्ट दिशा में कार्य करने अथवा उस कार्यसम्बन्धी प्रेरणा का अनुभव करती हो।[4] मनौवैज्ञानिकों की अवधारणा है कि मुख्य प्रवृत्ति अन्य प्रवृत्तियों को गौण बना देती हैं, हालाँकि सभी प्रवृत्तियाँ मानव में हमेशा विद्यमान रहती हैं। स्थायी भाव भी काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में सदैव स्थित रहने वाले मनोभाव ही हैं। स्थायीभाव अन्य भावों—व्यभिचारीभावों को आत्मरूप बना लेते हैं। स्थायीभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपककार धनञ्जय ने कहा है —

'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।'[5]

अर्थात् जो भाव अपने विरोधी या अविरोधी भावों से विच्छिन्न न हो तथा अन्य भावों को अन्य रूप बना ले, समुद्र के समान वह भाव स्थायी-भाव कहलाता है। मनःसंवेगों को स्थायी-भावों के साथ साम्य इस प्रकार देखा जा सकता है –

स्थायी-भाव	मनःसंवेग	
रति	कामुकता	Lust Emotion
हास	उल्लास	Feeling of Laughing
शोक	दुःख	Feeling of appealing
क्रोध	क्रोध	Anger Emotion
उत्साह	उत्कर्ष	Positive Self Feeling
भय	भय	Fear Emotion
जुगुप्सा	जुगुप्सा	Disgust Emotion
विस्मय	कौतूहल	Wonder Emotion
निर्वेद (शम)	अपकर्ष	Negative Self Feeling
वात्सल्य	वात्सल्य	Tender Emotion

इन मनःसंवेगों के अतिरिक्त माने गये भूख (Appetite), सामूहिकता (Loneliless), स्वामित्व (Ownership) तथा सृजन (Construction) आदि। मनःसंवेगों के रस का कोई साक्षात् सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। वास्तव में ये मौलिक मनःसवेग भी नहीं कहे जा सकते हैं। वास्तविक मनःसंवेग तो नौ या दस ही है, जिन्हें आचार्यो ने नौ या दस रसों के स्थायी-भावों के रूप में स्वीकार किया है। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य के रस के स्थायी-भावों का सिद्धान्त भी पूर्णतया प्राचीन मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित है।

जैन-दर्शन में आठ कर्मो की स्वीकृति है। इनमें मोहनीय कर्म को सब कर्मो में प्रधान कर्म कहा गया है। राग और द्वेष मोहनीय कर्म रूपी बीज से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए ज्ञानरूपी अग्नि से मोहनीय रूपी बीज को नष्ट करने की बात जैन-शास्त्रों में कही गई है।[6] दुःख का मूल कारण ये राग और द्वेष भाव ही हैं, क्योंकि ये दोनों भाव कर्म के बीज हैं। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण से दुःख होता है।[7] मनोविज्ञान के अनुसार भी अनुभूतियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं–प्रीत्यात्मक और अप्रीत्यात्मक। प्रीत्यात्मक

अनुभूति राग और अप्रीत्यात्मक अनुभूति द्वेष कहलाती है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एरिक बर्ने (Eric Berne) और सल्ले (Sulley) अनुभूतियों को सुखात्मक या दुःखात्मक मानते हैं।[8] जैनदर्शन में राग-द्वेष को कषाय रूप कहा गया है तथा कषायें क्रोध, मान, माया एवं लोभ चार प्रकार की कहीं गई हैं। इन चार कषायों के अतिरिक्त हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद को नोकषाय या ईषत्कषाय माना गया है। इन 13 कषायों की तुलना मनःसंवेगों से इस प्रकार की जा सकती है –

	कषाय	मनःसंवेग
1.	क्रोध	क्रोध Anger
2.	मान	उत्कर्ष, अपकर्ष Positive And Negative Feeling
3.	माया	छल Illusion
4.	लोभ	स्वामित्व Feeling of Ownership
5.	हास्य	उल्लास Feeling of Laughing
6.	रति	कामुकता, वात्सल्य Lust Feeling And Tender Emotion
7.	अरति	करुणा Feeling of Appealing
8.	शोक	दुःख Feeling of Appealing
9.	भय	भय Fear
10.	जुगुप्सा	घृणा Disgust
11.	स्त्रीवेद	
12.	पुंवेद	कामुकता Lust Feeling
13.	नपुंसकवेद	

साधना, भक्ति या वैराग्य को बढ़ाने वाला सबसे बड़ा साधन प्रतिपक्ष की भावना है। यदि अशुभ का त्यागना है तो शुभ का संकल्प करना आवश्यक है, यदि पापकर्म को छोड़ना है तो पुण्यकर्म का अवलम्बन आवश्यक है। महर्षि पतञ्जलि का स्पष्ट कथन है–'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'[9] अर्थात् यदि एक पक्ष को तोड़ना है तो प्रतिपक्ष की भावना पैदा करो। आचार्य मानतुङ्ग ने भक्तामर-स्तोत्र में की गई जिनेन्द्र देव की भक्ति से इन मनःसंवेगों या कषाय-भावों को तोड़ने

के लिए स्थान-स्थान पर इनके प्रतिपक्षी भावों का चिन्तन किया है। यही उनके भक्तामर-स्तोत्र की मनोवैज्ञानिक भूमिका है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी यह मानता है कि मानव-मन पापकर्म में सफल हो जाने पर भी दुःखी रहता है। पाप-कर्म का प्रतिपक्षी पुण्य-कर्म है। स्तुति एक पुण्यप्रद कार्य है, यदि वह उनकी की जाये जिन्होंने स्वयं पाप-प्रकृतियों को जीत लिया हो। आचार्य मानतुंग ने भक्तामर-स्तोत्र में जिनेन्द्रभगवान् की स्तुति पापकर्मों का नाश करने के लिए ही की है। वे स्वयं लिखते हैं कि हे नाथ! जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों से निशा का समस्त अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपकी स्तुति से प्राणियों के जन्म-जन्मान्तर के संचित पाप नष्ट हो जाते हैं।[10] पापों का नाश तो उनका एक पड़ाव है, वास्तव में वे इस स्तोत्र का सुफल पाठक तक को मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति मानते हैं। अन्त्य श्लोक में इस तथ्य को उजागर किया है –

> स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां
> भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्।
> धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
> तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः।। [11]

हे जिनेन्द्र भगवान्! विविध वर्णमय आपके गुणों से ग्रथित इस स्तुति रूपी माला को मैंने भक्तिपूर्वक बनाया है। जो पुरुष इसे गले में निरन्तर धारण करता है अर्थात् भक्तिभावपूर्वक इसका पाठ करता है, उस मानतुंग (उच्च ज्ञानी-सन्मानी) व्यक्ति को मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। यहाँ मानतुंग पद जहाँ रचयिता का सूचक है, वहाँ ज्ञानी, चारित्र धारी पाठक जनों का भी द्योतक है।

भय संसारी मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है। भयत्रस्त मानव भय के कारणों से संरक्षित होने का प्रयास निरन्तर करता है। अपनी रक्षा के लिए भय के प्रतिपक्षी साधन जुटाने पर भी वह पूर्ण संरक्षित नहीं हो पाता है, तथा अपने आराध्य की शरण में जाकर अपने को सुरक्षित मानने की भावना करता है। कठिन परिस्थितियों में वह अदेव-कुदेव या स्वर्गादि के देवों की प्रार्थना करने लगता है। इनसे बचने के लिए जैनधर्म में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म की स्तुति प्रमुख है। यद्यपि वीतराग भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते हैं, तथापि भक्तिजन्य/स्तुतिजन्य पुण्य से शरणागत के दुःख का नाश अवश्यमेव होता है। पापकर्म भी पुण्यकर्म में संक्रमित हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे

हम मार्गान्तरीकरण (Redirection) कह सकते हैं।

आचार्य मानतुंग ने संसार के प्राणियों को भयभीत देखकर उन्हें विविध भयों से संरक्षित होने हेतु जिनेन्द्रदेव की स्तुति करने की प्रेरणा दी है, जैसी कि उन्होंने स्वयं स्तुति की है। जगत् में हस्ति-सिंह आदि हिंसक पशुओं का भय, विषधर सर्पादि का भय, दावाग्नि आदि प्राकृतिक आपदाओं का भय, युद्ध की विभीषिका का भय, यात्रा में वाहन आदि के भंग होने का भय, विविध व्याधिजन्य भय तथा राज-बन्धन आदि का भय सतत विद्यमान है। इन सभी भयों का वर्णन आचार्य मानतुंग ने करते हुए जिनेन्द्र-भगवान् की स्तुति से उन्हें निवारण-योग्य माना है। उन्होंने लिखा है कि हे प्रभो! मदमत्त, प्रचण्ड-क्रोधी तथा उद्धत हाथी को देखकर भी आपके भक्त भयभीत नहीं होते हैं। हाथियों के संहारक सिंहों के भयानक पंजों के बीच पड़े हुए भी आपके भक्तों पर सिंह आक्रमण नहीं कर पाता है। जंगल में लगी हुई भयंकर आग भले ही तेज पवन से धधक रही हो, पर आपके नामरूपी जल के स्मरण से वह तत्काल शान्त हो जाती है। यदि जहरीला भयानक साँप भी आपके भक्त को डस ले तो भी उसके हृदय में यदि आपका पवित्र नाम है, तो वह नाम अमोघ औषधि बन जाता है। अश्वसेना, हस्तिसेना आदि वाली घमासान लड़ाई में भी आपको स्मरण करने से बलवान् राजाओं की सेना उसी प्रकार तितर-बितर हो जाती है, जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार समाप्त हो जाता है। भयानक युद्ध में आपके चरणों की शरण लेने वाला भक्त अजेय शत्रुओं को भी जीत लेता है। भयानक मगर-मच्छों से परिपूर्ण समुद्र में तूफान के समय भी तुम्हारे भक्त पार हो जाते हैं। जलोदर रोग से अपने जीवन की आशा छोड़ चुके रोगी भी आपकी चरणरज को माथे पर लगाने से कामदेव के समान सुन्दर हो जाते हैं। कारागार में बेड़ियों से जकड़े हुए आपके भक्त आपके नाम के स्मरण से बन्धनमुक्त हो जाते हैं तथा निर्भय हो जाते हैं।[12] इन सब भयों का पुनः उल्लेख करते हुए भगवद्भक्ति एवं स्तुति से इनके नष्ट हो जाने की बात आचार्य मानतुंग ने कही है –

'मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-जलोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।'[13]

अर्थात् जो व्यक्ति आपकी इस स्तुति (भक्तामर-स्तोत्र) को पढ़ता है, उसका मदोन्मत्त हाथी, सिंह, वन की अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग तथा बन्धन से उत्पन्न भय स्वयं ही तत्काल डरकर नष्ट हो जाता है।

काम, भय के पश्चात् महत्त्वपूर्ण मनःसंवेग माना गया है। यह प्रायः धीरों के हृदय को भी विचलित कर देता है किन्तु जिनेन्द्र भगवान् ने विकारों की प्रतिपक्षी शक्ति को प्रकट कर लिया है, अतः उनका मन बिल्कुल भी विचलित नहीं होता है। पुरुष की कामवासना को स्त्रियाँ उद्दीप्त करती हैं, परन्तु जिनेन्द्र भगवान के चित्त को देवांगनायें भी लेशमात्र चञ्चल नहीं बना पाती हैं। प्रभु की स्तुति करते हुए आचार्य माननुंग कहते हैं –

"चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदंशागनाभि –
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।"[14]

हे प्रभु! इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि देवांगनायें आपके मन को तनिक भी विकार के मार्ग पर नहीं ले जा सकी हैं। अनेक पर्वतों को हिला देने वाली प्रलय-कालीन पवन से क्या कभी सुमेरु पर्वत की चोटी चलायमान हो सकती है?

मायाचार की प्रधानता के कारण स्त्री की यद्यपि अनेकत्र निन्दा की गई है, तथापि उनके जीवन को तब ज्योतिर्मय भी माना गया है, जब उन्होंने किसी महामानव को जन्म दिया हो या फिर स्वयं साधना का मार्ग अपनाया हो। तीर्थंकर की माता किसी एक के द्वारा नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत् के द्वारा पूज्या मानी गई है। भक्तामर-स्तोत्र के एक हृदयग्राही श्लोक में कहा गया है –

'स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।'[15]

सैकड़ों मातायें, सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु आपके समान पुत्र को कोई अन्य माता जन्म नहीं दे सकी है। सभी दिशायें तारों को तो धारण करती हैं परन्तु चमकती हुई किरणों वाले सहस्ररश्मि (सूर्य) को तो पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।

आचार्य मानतुंग बाल-मनोविज्ञान से पूर्णतया परिचित हैं। इसी कारण वे विशेष बुद्धि के बिना अपने द्वारा की जा रही भगवान् की स्तुति को वैसा प्रयास कहते हैं, जैसा कि किसी भोले-भाले बालक द्वारा पानी में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयास हो।[16] उन्हें उन मनःसंवेगों की जानकारी है, जिनके कारण व्यक्ति दुष्कर कार्य को भी करने में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे मनःसंवेगों में रचनाधर्मिता (Feeling of Construction) प्रमुख है। जिनवर के अवर्णनीय गुणों का वर्णन करना यद्यपि रचयिता के लिए उसी प्रकार दुष्कर प्रतीत हो रहा है, जैसे कोई व्यक्ति भुजाओं से भयानक समुद्र को पार करना चाह रहा हो, परन्तु वे श्रद्धाभाव से स्तोत्र की रचना में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे अपनी प्रवृत्ति को उसी प्रकार मानते हैं जैसे कोई हरिणी अपने बच्चे को सिंह के चंगुल से छुड़ाने के लिए उसका सामना कर रही हो।[17] उनके स्तवन में प्रमुख निमित्त भक्ति है। वे निमित्त को अकिञ्चित्कर नहीं मानते हैं, अपितु निमित्त की प्रेरक-सामर्थ्य उन्हें स्वीकार्य है। तभी तो कह उठते हैं कि वसन्त ऋतु में अबोध कोयल जैसे आम्रमंजरी का निमित्त पाकर मधुर कूकने लगती है, उसी प्रकार अल्पज्ञ एवं विद्वानों की हँसी का पात्र मुझे भी आपकी स्तुति करने के लिए आपकी भक्ति बलात् वाचाल बना रही है।[18] आचार्य मानतुंग की दृष्टि में स्तुति/भक्ति का फल आराध्य के समान बन जाना है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि हे भुवनभूषण! हे भूतनाथ! संसार में यदि सच्चे गुणों से आपकी स्तुति करने वाले भक्त लोग आपके समान बन जाते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। जो आश्रयदाता आश्रित व्यक्ति को अपने समान नहीं बना लेते, उस आश्रयदाता से क्या लाभ है?[19]

आराधक को आराध्य के समक्ष सभी उपमान हीन प्रतीत होते हैं। आचार्य मानतुंग भी जिनेन्द्र देव का वर्णन करते हुए उनके मुख की प्रभा के समक्ष चन्द्रमा की हीनता का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि चन्द्रमा की प्रभा दिन में फीकी पड़ जाती है तथा वह कलंकयुक्त है जबकि आपके मुख की कान्ति कभी फीकी नहीं पड़ती है तथा वह निष्कलंक है। दीपक की वर्ति (बाती) से धुआँ निकलता है और वह तेल की सहायता से प्रकाश करता है, हवा के झोंकों से बुझ जाता है, जबकि आपकी वर्ति (मार्गसरणि) निर्धूम (पापरहित) है, तथा आप प्रलयकाल की हवा से भी विकार को प्राप्त नहीं होते हो। दीपक थोड़े से स्थान को प्रकाशित करता है, जबकि आप तीनों लोकों को प्रकाशित करते हो। आप सूर्य से भी

अधिक महिमावान् हैं। सूर्य सायंकाल में अस्त हो जाता है, उसे राहु ग्रस लेता है, वह द्वीपार्ध को ही प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश को मेघ ढक लेता है जबकि आप सदा प्रकाशित रहते हैं, राहु आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता है, आप तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं तथा आपके प्रकाश को कोई ढक नहीं सकता है।[20] इस प्रकार श्री मानतुंगाचार्य ने आराध्य के समक्ष लोकप्रसिद्ध उपमानों की हीनता दिखाकर व्यतिरेक की सुन्दर योजना की है। अनन्वय की एक सुन्दर योजना भी द्रष्टव्य है –

'यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत!।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यन्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति।।' भक्तामर, 12.

हे लोकशिरोमणि! आपकी रचना जिन पुद्गल परमाणुओं से हुई है, वे परमाणु लोक में उतने ही थे, क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई रूप नहीं है।

आराध्य के समक्ष अन्य सभी देवों को आराध्य से हीन मानना स्तवन का एक अंग सा रहा है। वेदों में प्रायः इस तरह के वर्णन पुराकाल से ही उपलब्ध हैं। भक्तामर-स्तोत्र में भी लोक में मान्य अन्य देवों की हीनता का वर्णन किया गया है।[21] आराधक की दृष्टि में उनके आराध्य जिनेन्द्र भगवान् के अव्यय, विभु, अचिन्त्य, असंख्य, आद्य, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनंगकेतु, योगीश्वर, विदितयोग, अनेक, एक, ज्ञानस्वरूप और अमल नाम हैं।[22] देवों से पूजित बुद्धि के बोध से वे ही बुद्ध हैं, तीनों लोकों को मंगलकारी होने से वे ही शंकर हैं, शिवमार्ग की विधि को बताने से वे ही ब्रह्मा हैं और सभी पुरुषों में उत्तम होने से वे ही पुरुषोत्तम हैं –

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।[23]

इस प्रकार विविध परम्परा के लोकनायकों के लिए प्रचलित नामों की अपने आराध्य में अन्वर्थकता दिखाकर आचार्य मानतुंग ने लोक-मनोविज्ञान पर अपनी पकड़ सुस्पष्ट की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीमानतुंगाचार्यकृत भक्तामर-स्तोत्र भक्तों के लिए मनोविज्ञान की भूमिका पर आश्रित एक प्रभावक स्तोत्र-काव्य है। यह सहसा ही पाठकों के हृदय को आन्दोलित करने में समर्थ है।

—रीडर संस्कृत विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

---

1. 'श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद भक्तानां वः समीहितम्।
   यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे।। क्षत्रचूड़ामणि 1/1.
   गुरुभक्ति सती मुक्त्यै क्षुद्र किं वा न साधयेत्।
   त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः।।' वही, 2/
2. आत्मानुशासन (शुभचन्द्राचार्य),
3. क्षत्रचूड़ामणि 2/ *(आशाब्धिरिव नैराश्यादहो पुण्यस्य वैभवम्)*
4. Inherited or innate Psycho-physical disposition which determines its possessor to perceive and to pay attention to object of a certain class to experience an emotional excitement of particular quality upon perceiving such an object and to action in regard to it in a particular manner or at least to experience an impulse to such action performed perfectly at the first attempt.
   —MC Daugall
5. दशरूपक, 4/
6. मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलांकुराविव।
   तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं एदेतौ निर्दिधिक्षुणा।।' आत्मानुशासन, 182.
7. रागो य दोसो वियं कम्मवीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
   कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति। —उत्तराध्ययनसूत्र, 327
8. See — A Layman's Guide to Psycherity and Phycho-Analysis.
   — Eric Berne
   and Outlines of Psychology-sulley
9. योगसूत्र, 2/33.
10. त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
    पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
    आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
    सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।—भक्तामर-स्तोत्र, 7.
11. वही, 48
12. भक्तामर-स्तोत्र, 38-46
13. वही, 47.
14. वही, 15.

15. भक्तामर-स्तोत्र, 22.
16. वही, 3
17. वही, 4-5
18. 'अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
    त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
    यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
    तच्चाम्रचारुकलिका निकरैकहेतुः।।'—भक्तामर-स्तोत्र, 6.
19. वही, 10.
20. वही, 13, 16, 17 तथा द्रष्टव्य 18, 19.
21. 'ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
    नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
    तेजो महामणिषु याति यथा महत्त्वं,
    नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि।।
    मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
    दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
    किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य.
    कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि।। भक्तामर, 20-21.
22. वही, 24.
23. वही, 25.

व्यवहार नय

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः।।

—श्रीमद्भट्टाकलंक, लघीयस्त्रयादिसंग्रहः पृ-90

—व्यवहार के अनुकूल होने से ही प्रमाणों की प्रमाणता स्थापित है, अन्यथा नहीं। यदि ऐसा न हो तो जो संशय आदि ज्ञान बाध्यमान होते हैं (जिनकी प्रमाणता में बाधा आती है) वे भी प्रमाण हो जावेंगे।

समय-शाह

—जस्टिस एम. एल. जैन

समय-सार का नाम तो करीब-करीब सबने सुन रखा है। समय, स्वसमय परसमय यह भी जानते हैं लोग। समय अनेकार्थी है। कोई समय का अर्थ करते हैं आत्मा। कोई समय से मतलब जैन-दर्शन भी लेते हैं। समयसार की स्तुति और पूजा भी करते हैं भक्तजन।

परन्तु समय एक शहंशाह है, एक सम्राट है। धन्य है समय, इसकी उत्कृष्टता की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। समय की इस अनुभूति को तारण-स्वामी (1448-1515) ने अपनी सूत्र-पुस्तक 'छद्‌मस्थ वाणी' में बड़े ही दिलचस्प तरीके से वर्णित किया है। वे बड़े ही सरल जैन ऋषि हो गए हैं। उनकी यह पुस्तक ब्रह्मचारी जयसागर जी ने सम्पादित की है। इसमें सूत्र, संस्कृतटीका, संस्कृतकाव्य, हिन्दी-गद्य-पद्य काव्य-अनुवाद के साथ विशेषार्थ देकर प्रकाशित किए गए हैं। मूल सूत्रों के अलावा सब कुछ ब्र. जयसागर जी की कृतियाँ हैं ऐसा जाहिर होता है। जयसागर जी तो तारण-स्वामी के गणधर-समान हैं।

बारहवें गुणस्थान तक श्रावक मुनि सब छद्‌मस्थ ही कहलाते हैं। जिनवर तारण-स्वामी भी छद्‌मस्थ थे,एक देश-जिन थे, इसलिए उनकी वाणी छद्‌मस्थ वाणी है। इस पुस्तक में इस संत के चौथे गुण-स्थान के अपने अनुभवों का संकलन है, जिन्हें उनके शिष्यों ने लेखबद्ध किया है। इन सूत्रों में जो लिखा है वह एक बाल के अग्रभाग के करोड़ों भाग करने पर एक भाग के बराबर ही है—अंदाज लगायें उस समग्र अद्‌भुत अनुभव का। कल्पनातीत है वह।

तारण-स्वामी के दर्शन-साहित्य की भाषा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व देशी भाषा का अजीब मेल है जिससे जाहिर होता है कि 15वीं सदी के उत्तर काल के व्यवहार में शुद्ध संस्कृत की भूमिका घट चुकी थी, प्राकृत अपभ्रंश की भूमिका भी घट रही थी। दर्शन-साहित्य में देशी भाषा का प्रयोग बढ़ गया था और बुंदेलखण्ड में एक गंगा-जमुनी भाषा का उदय हो चुका था। इस भाषा के व्याकरण के कोई नियम निश्चित नहीं हुए थे। न ही उन नियमों को ढूँढने की, उसके

व्याकरण की रचना करने की कोई कोशिश आज तक हुई जान पड़ती है। तारण सन्त का तो मकसद था विचारों का भव्य भक्तों तक सम्प्रेषण। जो कुछ भाषा उस समय प्रचलित थी उसी को उन्होंने अपना माध्यम बनाया। उन्होंने कहा, सुनने वाले भाव समभ्क गए, अर्थ समझ गए और शिष्यों ने जस का तस लिख लिया।

किसी भी भाषा में दर्शन-साहित्य लिखा जाए तो परम्परागत शब्दावली के बिना काम नहीं चलता। वही हालत यहाँ भी है। कोई श्रावक/सन्त जो चौथे गुणस्थान में अविरत सम्यक्त्व की स्थिति में होता है, उससे यदि सवाल किया जाए कि आप क्या, कैसा अनुभव करते हैं—क्या मिल गया है, क्या मिल रहा है आपको? माकूल सवाल है। क्या जवाब देगा वह इसका? किस प्रकार अपनी नवीन अनुभूति को बताएगा वह अपने साथियों को, श्रावकों को, भक्तों को और जिज्ञासा रखने वालों को? शास्त्र कहता है इस अवस्था में आत्मा के सम्यक्दर्शन याने तत्त्वार्थश्रद्धान नामक गुण का प्रादुर्भाव होता है जो दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। जिस जीव को यह अवस्था प्राप्त हो उससे पूछें कि भई यह तो हुई शास्त्रों की बातें, आप बताओ आप क्या महसूस करते हो? पहले से अब में क्या फरक है? क्या है, क्या नहीं है, वह अवक्तव्य जो केवली भी नहीं बताते। जिस अपार आनन्द की अनुभूति उनको है वह वर्णनातीत है—उसको व्यवहार की शब्दावली से पूर्णतः बताया ही नहीं जा सकता। केवल 'ओम्' की दिव्य ध्वनि होती है—इसी से उनके अनुभव की अभिव्यक्ति है। इसके अलावा और कोई शब्द नहीं है। किसी एक भाषा को क्या विश्व की सारी भाषाओं को उड़ेल कर रख दो तब भी उस अनन्त का वर्णन नहीं हो सकता। जिनवाणी तो बस ओम् से प्रसूत है परन्तु छद्मस्थ अपने अनुभव को व्यवहार के शब्दों में इतर जनों को बता सकता है—वह भी सूत्र रूप से, अनगिनत अस्ति-नास्ति के प्रयोगों द्वारा, व्यवहार की भाषा के द्वारा, कुछ-कुछ बता सकता है। जैसे –

न छाया न माया देशो न कालो
न जाग्रं न स्वप्तं न वृद्धो न बालो
न हृस्वं न दीर्घं न रम्यं न अरण्यं

आचार्य कुन्दकुन्द ने समय-प्राभृत में कहा है—

सम्म दंसण णाणं ऐसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणय पक्ख रहिदो भणिदो सो समय सारो।।

जो समस्त नय-पक्ष से रहित कहा गया है वह समयसार है, यह समयसार ही केवल सम्यक्दर्शन ज्ञान इस नाम को पाता है।

याद रहे जिस युग में तारण स्वामी (1448-1515) प्रगट हुए वह सन्तों के उपदेशों का युग था। मुस्लिम सूफी सन्तों के अलावा सूर, तुलसी, मीरा, नानक, कबीर, रैदास आदि हिन्दू सन्तों का युग था। जैन सन्तों में मुख्य थे तारण स्वामी। जैनेतर परम्परा के सन्तों को ईश्वर ही सब कुछ है–चाहे साकार हो, निराकार हो किन्तु जैन सन्त का काम बड़ा ही कठिन था। वह अपने 'स्व' पर ही केन्द्रित था। प्रभु मिलन के अनुभव को शायद कुछ आसानी से कहा जा सके, जैसे –

1. **कबीर तेज अनंत मानो उगी सूरज सेणि**
पति संग जागी सुदरी कौतिग दीठा तेणि।
2. **पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत**
संसा खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत
3. **पिंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास**
मुखकस्तूरी महकही वाणी फूटी बास।

किन्तु 'स्व' मिलन के अनुभव को वर्णन करना अत्यन्त दुष्कर काम है। तारण स्वामी ही एक मात्र ऐसे जैन सन्त हैं जिन्होंने संगीत व भजनों के द्वारा आत्मा के परमात्मा बनने की प्रक्रिया में होने वाले अपने अनुभव वर्णन किए हैं।

ममल पाहुड़ के पृ. 751-771 (138) उवन अर्क सोलही गाथा (139) जै जै मेल समय गाथा (140) दि सि अंग फूल गाथा (141) समय उवन गाथा (142) उवन पिय रमन गाथा आदि, गाथा-भजनों के द्वारा सम्यक्-प्राप्ति के आनन्द अनुभवों का विस्तार से वर्णन किया है। उन्हीं का सार छद्मस्थवाणी में सूत्ररूप में लिखा गया है। दोनों ग्रंथों की भाषा देशी बुंदेलखण्डी है, जिसको जयसागर जी की टीका के सहारे ही समझा जा सकता है। इस सब अनुभव-वर्णन का आस्वादन तो आप पढ़कर ही कर सकेंगे। कुछ आत्मानुभव का रस लीजिए।

अविरत सम्यक्त्वी कहता है –

चौथे जे उत्पन्न जैसे ऐ से होई

(कैसे?) शाह होई, वाह होई, वर होई, वरयाई होई, संवर होई, संवराई होई, तप होई, तेज होई, लब्धि होई, अलब्धि होई, नन्द होई, आनन्द होई, रंज होई, रमण होई, दयालु होई, अन्मोद होई, प्रिय होई, प्रवेश होई, प्रसाद होई, (दशमोऽध्याय:)

सम्यक्त्व अनुभूति कैसी है यह? ऐसी है मानो तीन लोक का बादशाह हो, जब बादशाह की उपस्थिति है तो फिर भयों का विलय हो जाता है, शल्य और शंका का भी विलय हो जाता है। यह समय बड़ा ही हितकारी है। सम्पूर्ण केवली भगवन्तों को जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका तो कहना ही क्या। वह तो अनन्त समय में प्रविष्ट है, लेकिन चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व की उत्पत्ति है। वह एक-एक समय-समय समय मेरा स्वसमय है, यह 'सुदीप्ति प्रवेश' (देदीप्य स्वभाव की प्राप्ति) है यह 'सुन्न प्रवेश' मानो शून्य में प्रवेश है। हा. हा. जय, जय सम्यक्त्व जय, गुप्तार जानी (गुप्त रहस्य जान लिया) आचरण जाना जो जैसे है वह वैसे ही है (सुनो) जैसा हमारे है वैसा ही तुम्हारे है, जो मेरा सो तेरा, मेरा ध्रुव है। लाभ लो, ले सकते हो तो लो।

वह सब साधक की भाषा है, अनलहक की भाषा है, रहस्यवादी की भाषा है।

कहते हैं जैसा हमने पाया वैसा तुम को दे रहे हैं, लो इसे लो। जो इस वक्त हमें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है वह बेशक प्रसाद है, बेशक सर्वार्थ है, ध्रुव का उदय हुआ है समय एक सूर्य के समान उदय हुआ है। मानो रत्न जड़ित हार मिल गए हैं। इन हारों को, अपनी आत्मा को, चैतन्य चिदानन्द को समर्पित करो। यह ऐसा लगता है मानो कोई पालकी लेकर आया है, सिंहासन पर हमें बिठा दिया है, यह है 'रत्न जड़ित पहरावणी'।

जानते हो न तीर्थकरों के प्रगट होता है अशोक वृक्ष–शोक का सब विलय, दिव्यध्वनि मागधी भाषा में परिवर्तित हो जाती है। ऐसा लगता है मानो इष्ट रूपी पुष्पों की वृष्टि हो रही है–वह है असल सहज स्वभाव आनन्द–कैसा होगा वह आनन्द। मैं तुमको बता क्या रहा हूँ, मैं तुम को अनन्त निधि दे रहा हूँ, अमृत वर्षा कर रहा हूँ–मुक्ति का प्रसाद है यह।

जो धरोहर लिखकर तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत की है, उसके द्वारा प्रिय स्वभाव–अनन्त स्वरूप की प्राप्ति होगी –

जो थाती लिखि प्रवेश दियो
प्रिय संसर्ग अनन्त प्रवेश

लेहुरे! बड़े प्रिय प्रमाण दियो

प्रिय प्रमाण ध्रुव, उत्पन्न शाह।

ऐसा लग रहा है मानो हजार क्या, लाखों क्या, करोड़ो क्या, असंख्य अमृत कलशों से आत्मा का अभिषेक हो रहा है और वे कलश-जल सब इसी आत्मा में हैं, बनते हैं और वह स्वयं भी अभिषिक्त हो रहा है।

'शून्य समूह बारि-बारि हृदय में ही देखउ'। इस प्रकार अपने अनुभवों को दर्शाते-दर्शाते सम्वत् पन्द्रह सौ बहत्तर (1572) वर्ष, ज्येष्ठ वदि छठि की रात्रि, सातें शनिचर के दिन, जिन तारण तरण शरीर छूटो, अनन्त सौख्य उत्पन्न प्रवेश!

मेरा महोत्सव मत करो अस्थाप का ही कीजिए

परिचय स्वयं चिद्रूप का अन्मोद भर भर लीजिए। (पद्यानुवाद)

यह सब मिलेगा—यदि तुम अंकुर आचरण याने आचरण का अंकुरारोपण करो—तब लगेगा क्या हुआ। पाओगे वह होगा—

गम्य, अगम्य, अथाह, अग्रह, अलह (अलस्य), अभय, भय रहित, सहज स्वंकीय की उत्पत्ति—अनन्तानन्त, अनन्तानन्त, अनन्तानन्त अनन्त उत्पन्न प्रवेश। जय शाह, जय शाह!

ओं उवन उवन उवं उवनं

उवनं सोई लोय नन्त प्रवेशं

उवन शरण सोई विलयं

उवन सुई तारकमल मुक्ति विलसन्ति।

ॐ शुद्धात्मा का उदय हो रहा है। उदय हो रहा है। अपने आत्मा में उस उदय का, उस अनंत का प्रकाश प्रवेश हो रहा है, संसार के शरण का विलय करके उसका उदय हो रहा है। उसी उदय में कमल के समान तारण (स्वामी) मुक्ति में विलाय करने लगे हैं।

और अन्त में यह सूत्र —

नट—नाठ। घटघाट। सटसाट। झटझाट। लटलाट। वटवाट।

विद्वानों के लिए पहेली है यह सूत्र। मेरे विचार में तारणस्वामी कहते हैं; हे आत्मा तूही नट है तूही नचाने वाला है, तूही घट है और तूही तेरा घाट (मंजिल) है। (कर्म) शठ के साथ तू भी शाठ्य कर; शीघ्र कर्मों की धूल झाड़ दे ; लाट (तुच्छ विचारों) को लटका दें ; हे वट (वटोही) मोक्ष का वाट (मार्ग) पकड़/धर्म

रूपी वट की वाट (रास्ता) पकड़ अथवा मुक्ति रूपी वट वाली वाटिका में रमण कर।

यह तो एक झलक है आत्मा के अनुभवों की। तारणस्वामी की स्वानुभूतियों का सागर तो 'ममल पाहुड़' में है जो गीतों का एक बड़ा ग्रंथ है। इसका टीका युक्त अनुवाद ब्र. शीतलप्रसाद जी ने सन् 1936 में किया था जिसमें उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र, समयसार व गोम्मटसार के ज्ञान का भरपूर उपयोग किया है। इस पाहुड़ में गीतों को 'फूलना' नाम दिया है। आत्मा में फूल खिलने की वह बात 'गीत' या 'भजन' में नहीं आती जो 'फूलना' में है। 'फूलंना' के पदों को 'गाथा' नाम दिया है। 'ममल पाहुड़' के फूलना (158) 'मिलन समय गाथा' के बारे में ब्र. शीतलप्रसाद जी ने लिखा है कि यह उस समय प्रचलित पुरानी हिन्दी का नमूना है, यथा –

विलस रमन जिन मो ले जाई
उव उवन स्वाद रस मिलन मिलाई–1
जिन हो साही जिनय जिना
जिन उवन समय सुइ सिधि रमना–2

इसका अर्थ है–जिनेन्द्र (के गुणों) में मगन होना मुझे विलास (आनन्द) की ओर ले जाता है। जब (समय) उत्पन्न होता है, तब (स्वात्म) मिलन के रस का स्वाद मिलता है। जिस जिन ने (कर्मो को) जीत लिया है उस जिन की साधना करो। जब जिन का समय उत्पन्न हो जाता है वही सिद्धि (मुक्ति) में रमण (आनन्द की प्राप्ति) है।

यह अर्थ मैंने अपने हिसाब से किया है। क्या ही अच्छा होता स्वयं शीतलप्रसाद जी या बाद में जयसागर जी एक तारण शब्द कोष भी स्वाध्याय करने वालों को उपलब्ध करा देते !!

–215 मंदाकिनी एन्क्लेव,
अलकनन्दा, नई दिल्ली-110019

सम्यक्त्व और चारित्र : किसका कितना महत्त्व

—शिवचरण लाल जैन

प्रत्येक संसारी जीव चतुर्गति के दुःखों से संतप्त है। दुःख से सम्पूर्ण-रीत्या छूटना मोक्ष है। यह जन्म, मरण, भ्रमण तथा कर्म से रहित अवस्था है, जिसके प्राप्त हो जाने से पुनः संसार दुःख की भयावह स्थिति सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। मोक्ष का उपाय रत्नत्रय अर्थात् यथार्थ विश्वास रूप सम्यग्दर्शन (right belief) यथार्थ ज्ञान (right knowledge) सम्यग्ज्ञान तथा यथार्थ आचरण रूप सम्यक् चारित्र (right conduct) है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की धर्म-संज्ञा है। यही जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुख में स्थापित करता है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्य दुःखमय संसार के कारण हैं। (रत्नकरण्ड 2-3)

सम्यग्दर्शन – आगम का आलोड़न करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न अनुयोगों की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के निम्न लक्षणों को स्वीकृति प्राप्त है :–

1. परमार्थ आप्त, आगम और तपस्वी अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की तीन मूढ़ताओं से रहितं तथा आठ अंग सहित श्रद्धा-सम्यग्दर्शन हैं। (रत्नकरण्ड-4)
2. 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों अथवा पुण्य-पाप संयुक्त कर नव पदार्थो का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है। (तत्त्वार्थ सूत्र (1-2) एवं समयसार-13)
3. आत्मा और पर का यथार्थ श्रद्धान्-सम्यग्दर्शन है।
4. मात्र आत्मा का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है। इसे आत्म-साक्षात्कार भी उल्लिखित किया गया है।
5. दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृतियों तथा चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से प्रकट होने वाली आत्मविशुद्धि रूप श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रथम लक्षण चरणानुयोग (रत्नकरण्ड आदि) की दृष्टि से

मान्य है। प्राथमिक जीवों के लिए परमौषधि है। मध्य के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ लक्षणों की द्रव्यानुयोग-सम्मत सोपान-शृंखला से आरोहण करता हुआ जीव अंतिम पाँचवे लक्षण से लक्ष्य-सम्यग्दर्शन अर्थात् करणानुयोग-सम्मत नियामक स्थिति को प्राप्त कर मुक्ति का अवश्यम्भावी पात्र बन जाता है। सार्व दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यथार्थ रूप में, एक लक्षण में अन्य लक्षण भी समाविष्ट हैं। देव-गुरु-शास्त्र तीनों या इनमें से एक का यथार्थ श्रद्धान हो जावे तो सभी सम्यक्त्व लक्षण प्रकट हो जायेंगे। आ. कुन्दकुन्द ने कहा भी है,

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। आ. कुन्दकुन्द।। प्रवचनसार-80

अतः रत्नकरण्ड में वर्णित सम्यक् लक्षणावली से श्रद्धेय सम्यग्दर्शन के स्वरूप को समझ कर यह निर्धारण करना चाहिए कि सम्यग्दर्शन का आत्म-हित-हेतु बहुत महत्त्व है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व – आ. समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त्व की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सम्यक्त्व के समान अन्य श्रेयस्कर नहीं है। चाण्डाल शरीर की भी सम्यग्दर्शन सहित स्थिति में दिव्यता होती है। सम्यग्दृष्टि-जीव जन्मान्तर में नारकी, तिर्यच, स्त्री, नपुंसक, दुष्कुली, विकलाङ्ग और अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह अव्रती ही क्यों न हो। ज्ञान-आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि और फलोदय बिना सम्यक्त्व के नहीं होते· जैसे कि बिना बीज के वृक्ष नहीं होता। सम्यग्दर्शन का मूल्य ज्ञान और चारित्र से अधिक है एवं मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कर्णधार (खेवटिया) कहा गया है। यहॉ सर्वत्र सम्यग्दृष्टि को जिनभक्त के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सम्यक्त्व के प्रभाव से अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त, प्रकृष्ट रूप से शोभायमान देवगति में देवों और अप्सराओं के मध्य चिरकाल तक सुख-विलास करता है। सम्यग्दृष्टि जीव भवान्तर में ओज, तेज, विद्या, वैभव, बल, यश, विजय से युक्त तथा महानकुलीन, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थो को सिद्ध करने वाला सर्वश्रेष्ठ मानव होता है। यह सम्यक्त्व की ही महिमा है। दर्शन की शरण प्राप्त करके जीव शिव, अजर, अरुज, अक्षय, अव्याबाध, शोकरहित, भयरहित और पराकाष्ठा को प्राप्त निर्मल ज्ञान, सुख, बल-वैभव स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। वह संसार के श्रेष्ठ प्रोन्नत पद चक्रवर्ती एवं तीर्थकर पद को

धारण कर मोक्ष प्राप्त करता है। कहा भी है –

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृत सर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।। रत्न-41।।

जिस दृष्टि से सम्यग्दर्शन से सम्पन्न गृहस्थ भी सम्यग्दर्शन-रहित मोही मुनि की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्णित किया गया है (रत्न-33) उस कारण से भी सम्यग्दर्शन का अधिक महत्व है। पुरुषार्थसिद्धि में आ. अमृतचन्द्र जी ने सर्वप्रथम सम्यक्त्व-प्राप्ति का उपदेश दिया है :–

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।। 21।।

चरणानुयोग में सम्यक्त्व का लक्षण गृहीत मिथ्यात्व के त्याग अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र एवं कुगुरु के त्याग की अपेक्षा वर्णित है एवं द्रव्यानुयोग में अगृहीत अनादि कालीन सहज उद्भूत पर पदार्थों में आत्मबुद्धि के त्याग की अपेक्षा व्याख्यायित है। दोनों ही प्रकार के मिथ्यात्व के त्याग-रूप सम्यक्त्व का महत्व है।

इन्हें व्यवहार-सम्यग्दर्शन व निश्चय-सम्यग्दर्शन की संज्ञा देकर आचार्यो ने साध्य-साधन के रूप में मान्यता दी है। पंचास्तिकाय टीका (106-107) में आ. अमृतचन्द्र जी ने व्यवहार-सम्यग्दर्शन को निश्चय-दर्शन का बीज कहा है। प्राथमिक जीवों को निश्चय के श्रद्धान-युक्त व्यवहार ही शरण होता है।

तात्पर्य यह है, सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में पर्याप्त महत्त्व निर्दिष्ट किया गया है। अनेक रूपों में इस की मान्यता है। इसकी भावना के प्रभाव से ही जीव मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति) कर देता है। यही कारण है कि एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने पर यदि वह छूट भी जाता है तो पुनः अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन काल की अवधि में प्राप्त कर चारित्र परिणत होकर मोक्षसिद्धि कर लेता है।

सम्यक्चारित्र – विभिन्न अनुयोगों की दृष्टि से चारित्र के लक्षण भी *भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं। सम्यक् शब्द आचरण की समीचीनता, यथार्थता अथवा* सम्यक्त्व की सहितता का द्योतक है। चारित्र के कतिपय निम्न लक्षण दृष्टव्य हैं :–

1. पाप से विरक्ति का नाम चारित्र है। यथा,

क) **हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।**

पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं।। 49।। रत्नकरण्ड।।

ख) **"हिंसादि निवृत्तिलक्षणं चारित्रम्"। रत्नकरण्ड टीका 47। आ. प्रभाचन्द्र।।**

ये लक्षण चरणानुयोग-सम्मत हैं। प्रथमानुयोग में सामान्य एवं सरलतम छोटे-छोटे व्रत नियम को भी चारित्र कहा गया है। प्रथमानुयोग में भी उपरोक्त पाप-निवृत्ति को भी चारित्र कहा है।

2. "स्वरूपे चरणं चारित्रं।" समयसार आत्मख्याति टीका आ. अमृतचन्द्र। आत्मा का आत्मा में विचरण करना ही चारित्र है। यथा,

"अप्पा अप्पम्मि ओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।

जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गो त्ति।।" कुन्दकुन्द।।

3. मोह और क्षोभ से रहित परिणाम ही सम है, वही चारित्र है, वही धर्म है।

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। प्रवचनसार-7।।

द्रव्यानुयोग-सापेक्ष उपरोक्त लक्षण निश्चय-सम्यक्चारित्र के हैं।

4. ज्ञायक भाव के तीन भेद करते हुए आत्मख्याति में आ. अमृतचन्द्र ने रागद्वेष को परिहरण करने वाली ज्ञान की समर्थ प्रवृत्ति को चारित्र कहा है।

5. बृहद् द्रव्यसंग्रह में चारित्र के निश्चय एवं व्यवहार रूपों को व्याख्यायित किया गया है। निश्चय चारित्र का स्वरूप उपरोक्त प्रकार है। व्यवहार चारित्र का वर्णन करते हुए आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं :–

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं।। 45।। द्रव्यसंग्रह।

–अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानो। यह व्रत-समिति-गुप्ति है। ऐसा व्यवहार-नय से जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

6. चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय से प्रकट होने वाली आत्मविशुद्धि का नाम चारित्र है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन *क्रोध, मान, माया, लोभ कुल बारह एवं नौ नोकषाय कुल 21 प्रकृतियों का उपशम* अथवा क्षय यहाँ अभीष्ट है (गोम्मटसार)। यह करणानुयोग-सम्मत लक्षण है। उपरोक्त प्रथमानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग सापेक्ष-लक्षण साधन हैं और

तीसरा अंतिम करणानुयोग-सम्मत-लक्षण साध्य है। यह चारित्र स्थिति का नियामक लक्षण है। द्रव्यानुयोग-सम्मत लक्षण को साधन एवं साध्य दोनों रूपों में जानना चाहिए।

सम्यक्चारित्र का महत्त्व – आ. कुन्दकुन्द ने चारित्र को ही धर्म कहा है एवं उसे 'दंसणमूलो' कहकर सम्यक्पन प्रदान किया है। उन्होंने कहा है कि नग्नता, निग्रन्थता, समस्त प्रकार परिग्रहत्याग-रूप-अहिंसा ही मोक्षमार्ग है, इसके बिना तीर्थंकरत्व होने पर भी सिद्धि नहीं होती। देखिए,

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो य मोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। सूत्रपाहुड़-23।।

चारित्र कसौटी है, परीक्षा है ज्ञान व श्रद्धान की। जो ज्ञान-श्रद्धान, चारित्ररूपी फल के रूप में प्रकट नहीं होता वह व्यर्थ ही है। आ. समन्तभद्र रत्नकरण्ड में कहते हैं,

पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति।। 148।।

—पाप जीव का शत्रु है, धर्म (पाप से विपरीत, रत्नकरण्ड के अनुसार पुण्य-रूप, व्रत-रूप) बन्धु है। यह निश्चय करने वाला, ग्रहण योग्य चुनने वाला यदि आगम को जानता है तो वह ज्ञाता श्रेयस्कर है, प्रशंसनीय है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की शोभा चारित्र से, संयम से है। आ. समन्तभद्र ने पॉच अणुव्रतों में प्रसिद्ध पुरुषों के नाम का उल्लेख करते हुए, थोड़े से त्याग की भी महती प्रशंसा की है तथा अणुव्रतों से इस लोक में अतिशय प्रतिष्ठा व परम्परयास्वर्ग एवं निर्वाण-सुख की प्राप्ति का उद्घोष किया है,

"पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।। 63।।
मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्।। 64।।

उन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पञ्च पापों की महती निन्दा की है एवं सदैव पापों से बचने की विस्तृत रूप से प्रेरणा की है।

अर्हन्त भगवान् की दिव्य-ध्वनि को द्वादशांग में गूँथने वाले गणधर प्रभु ने सर्वप्रथम आचारांग को रखा है, तथा श्रावक के चारित्र का निरूपक उपासकाध्ययन

भी अर्द्ध द्वादशांग के पश्चात् प्रथम स्थान पर रखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि चारित्र की महिमा सर्वोपरि है। सम्यक्दर्शन एवं ज्ञान सम्यक्-चारित्र के लिए है, दर्शन-ज्ञान गायक है, चारित्र गेय है। रागद्वेष की निवृत्ति अर्थात् वीतरागता चारित्र से प्रकट होती है, कहा भी है,

मोह तिमिरापहरणे दर्शनलाभाद्वाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।। 47।।

—मोहान्धकार दूर होने तथा सम्यक्त्व एवं ज्ञान-प्राप्ति होने पर साधु अर्थात् समीचीन ज्ञान रागद्वेष निवृत्ति हेतु चारित्र अंगीकार करता है

संवर के कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार प्रातःस्मरणीय आ. उमास्वामी कहते हैं,

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।" (9—1)

अर्थात् संवर. आस्रव निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है। ये सभी कारण आचरण रूप हैं। इनसे निर्जरा भी होती है। केवल सम्यग्दर्शन-प्राप्ति से सिद्धि नहीं होती। कर्मक्षय हेतु तप-संयम-चारित्र ही अनिवार्य रूप से (साक्षात् रूप से) आवश्यक हैं, करण हैं, नियामक कारण हैं। सम्यग्दर्शन तो चारित्र को दिशा देता है। मोक्षमार्ग त्रितयात्मक है,

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"।। 1।। तत्त्वार्थसूत्र।।
"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।" रत्नकरण्ड-3।।

चारित्र को अंत में रखने से ज्ञात होता है कि सम्यत्व से पहले भी चारित्र की उपयोगिता है तथा बाद में भी। चारित्र होने पर ही मोक्षमार्ग की सफलता है। सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु भी सम्यक्त्व चरण चारित्र (अष्टांग एवं पच्चीस दोष निवृत्ति रूप चारित्र) की आवश्यकता कुन्दकुन्द स्वामी ने चारित्रपाहुड़ में उद्घोषित की है। संयमचरण-चारित्र्य तो सम्यक्त्व चरण का भूषण है, उपादेय है। चारित्र संयम की महिमा का गान अव्रत सम्यग्दृष्टि इन्द्र आदिक सभी करते हैं। मनुष्य पर्याय में संभव होने से उसकी प्राप्ति हेतु छटपटाते हैं।

किसका कितना महत्त्व? इस प्रश्न का उत्तर सापेक्ष दृष्टि में निहित है जो जीव गृहीत मिथ्यात्व (कुदेन कुशास्त्र; कुगुरु की श्रद्धा) की भूमिका में हैं, उनके लिए सम्यक्त्व का अर्थात् यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का अत्यधिक महत्त्व है। पुनश्च यथार्थ तत्त्वज्ञान की स्थिरता के लिए सम्यक्त्व के अष्टांग

निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना रूप तथा 25 दोषों के परिहारस्वरूप सम्यक्त्व-चरण चारित्र की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि अंगहीन सम्यक्त्व संसार-परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता। देखिये,

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म संततिं।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।। रत्नकरण्ड-21।

ज्ञातव्य है कि मिथ्यात्व, अनीति एवं अभक्ष्य त्याग रूप चारित्र की आवश्यकता तथा सप्तव्यसन-त्याग-रूप चारित्र की महत्ता सम्यक्त्वोत्पत्ति एवं स्थिति हेतु अनिवार्य है।

मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता रूप है। दर्शन और चारित्र तराजू के दो पलड़ों के समान हैं तथा मध्यवर्ती ज्ञान काँटे की भाँति दोनों का नियन्त्रक है। दोनों पलड़ों का महत्त्व समान है एवं विध दर्शन और चारित्र का महत्त्व भी समान रूप से है। परिस्थिति अथवा अपेक्षा वश मूल्यांकन में न्यूनाधिकता संभव है। यहाँ भी गौणता एवं मुख्यता का दृष्टिकोण धारणीय है। जैसे जिस समय प्रथम पलड़े पर मापक (बाँट) रखे हुए हैं तथा दूसरे पर उससे कम भार की वस्तु है तो पहले को भारी (अधिक महत्ता वाला) माना जाता है, किन्तु अन्य समय में यदि वस्तु का भार अधिक हो जाता है तो वह भारी माना जाता है, तथा वस्तु मापक के बराबर रखी जाती है तो सही तौल (समीचीनता) का निर्णय होता है। इसी प्रकार दर्शन एवं चारित्र दोनों का महत्त्व एवं आदर हमें समान रूप से करना चाहिए। ज्ञान रूपी काँटे का कार्य सम्यक्त्व एवं चारित्र रूपी पलड़ों को समान रूप से तौलना है।

चारित्र नौका के समान है, तैरना तो नौका को ही होगा। खेवटिया भी चाहिए। उसी प्रकार संसार-समुद्र से तिरना तो चारित्र से ही होगा। अकेले कर्णधार-दर्शन का कोई प्रयोजन नहीं। सम्यग्दर्शन जन्मभूमि के समान है तथा चारित्र जननी के समान है। मोक्षतत्त्व रूपी पुत्र को चारित्र रूपी जननी ही जन्म देती है, हाँ परम्परा रूप से दर्शनरूपी जन्मभूमि भी नियामक कारण है। आ. कुन्दकुन्द ने "दंसणमूलो धम्मो" एवं "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर दर्शन को धर्म मूल तथा चारित्र को साक्षात् धर्म कहा है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के महल की नींव के सदृश है एवं चारित्र साक्षात् महल है। यदि कोई अज्ञानी बिना नींव के महल बनावेगा तो वह टिकाऊ नहीं होगा तथा यदि मात्र नींव को ही महल मान लेगा तो आश्रयविहीन

एवं निरर्थक ही होगा। स्पष्ट है कि सम्यक्त्व का अस्तित्व चारित्र के लिए है। वृक्ष की स्थिति में जो सम्बन्ध बीज और फल का है, वही सम्यक्त्व और चारित्र के मध्य में है। एक दूसरे के अस्तित्व में ये परस्पर पूरक हैं।

निश्चय-नय की दृष्टि में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक हैं। एक ज्ञायक भाव की तीन परिणतियाँ हैं। जो ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र है। अंशी आत्मा के सभी अंशों का समान (अर्पित-अनर्पित दृष्टि से) महत्त्व है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार चारित्र प्रधान ग्रन्थ है ही किन्तु इसमें सम्यग्दर्शन के महत्त्व को जो 40 श्लोकों में वर्णित किया गया है तथा उसे चारित्र से भी अधिमान दिया गया है, उसका मूल कारण यह है कि बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र को सम्यक् संज्ञा नहीं दी जा सकती। वह अज्ञान-चारित्र ही है। मात्र चारित्र के भार को ही वहन करने से भी कल्याण नहीं है, अतः चारित्र को यथार्थ तत्त्वश्रद्धान पूर्वक ही धारण करना चाहिए। बिना श्रद्धान-ज्ञान के तो कोल्हू के बैल जैसा उसी एक स्थिति में ही भ्रमण रहता है। आगे सही दिशा में गमन संभव नहीं है।

यहाँ एक और बात का उल्लेख करना चाहूँगा कि कतिपय जन सम्यग्दर्शन को ही स्वानुभूति एवं श्रद्धात्मानुभूति मान लेते हैं, सो यह भ्रम है क्योंकि सम्यग्दर्शन तो दर्शनमोहनीय की तीन एवं अनन्तानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के अनुदय में प्रकट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है, जबकि स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरण नाम से कहे जाने वाले मतिज्ञानावरण के अवान्तर-भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। यह ठीक है कि स्वात्मानुभूति सम्यत्व के होने पर ही होती है किन्तु करणानुयोग में व्याख्यायित गुणस्थान क्रम से ही होगी। गोम्मंटसार में चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती का लक्षण देखकर अपनी अव्रत दशा में ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। स्वात्माभूति की सामर्थ्य वहाँ लब्धिरूप में, मात्र श्रद्धारूप में, अव्यक्त रूप में रहती है, उपयोग रूप में नहीं। पञ्चम गुणस्थान में वह प्रकट होती है, वह भी चारित्र के बल से। करना क्या है, यह आ. पूज्यपाद के शब्दों में देखिए—

अव्रतीव्रतमादाय व्रतीज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परोभवेत्।।86। समाधिशतक।

—अव्रतीसम्यक् प्रकार व्रत ग्रहण कर ज्ञान-तत्पर होकर निज-पर के भेद ज्ञान से युक्त रूप में स्वयं उत्कृष्ट परमात्मा हो जाता है। यहाँ आचार्य ने चारित्र

की उपादेयता का उपदेश किया है। इससे पूर्व के श्लोक में पापों को छोड़कर व्रतों में निष्ठावान होने को कहा है।

सम्यग्दर्शन सूक्ष्म एवं अन्तरंग विषय है। उसकी बाह्य पहिचान नियामक नहीं है, किन्तु चारित्र तो स्व में व पर में सर्वतः परिलक्षित होता है, प्रभावना का विशेष कारण है। तीर्थ की प्रवृत्ति तीर्थंकर प्रभु के चारित्र के प्रभाव से ही होती है। यह सबके कल्याण का कारण होने से सर्वोदय तीर्थ कहलाता है। संयम की महिमा त्रिभवन में व्याप्त हो जाती है। जैनधर्म और सर्वोदय तीर्थ का मूल संयम ही है। ज्ञान-श्रद्धान एवं क्रिया-चारित्र की सापेक्षता ही अभीष्ट है। रत्नत्रय के सभी अंगों का पर्याप्त महत्त्व है।

आगम के कतिपय स्थल दृष्टव्य हैं :–

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि –

द्रव्यंमिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षः।

तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतुमोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।। प्रवचन सार अध्याय2-12 तत्त्वप्रदीपिका टीका।।

अर्थ – द्रव्यानुयोग के अनुसार चरणानुयोग है एवं चरणानुयोग का अनुसारी द्रव्यानुयोग है। यदि परस्पर में वे निरपेक्ष हैं तो दोनों मिथ्या हैं। अतः मुमुक्षु मोक्षमार्ग में चाहे द्रव्यानुयोग की प्रमुखता से अथवा चरणानुयोग की प्रमुखता से आरोहण करे। गौण-मुख्य कल्पना ठीक है, निषेध या किसी के अवमूल्यन की नहीं :–

द्रव्यस्यसिद्धौ चरणस्य सिद्धिः

चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धिः।

बुध्वेति कर्माविरतापरेऽपि

द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।। 13।। अध्याय 3।

–द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। यह जानकर प्रवृत्ति-दशा में द्रव्य के अविरुद्ध आचरण करो। यहाँ पर आचरण का उपदेश है। श्रद्धान-ज्ञान की समीचीनता अभीष्ट है ही।

एवं पणमियसिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।

पडिवज्जदु सामण्णं जइ इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं।। प्रवचनसार-201।।

अर्थ – यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों

को, अर्हन्तों को और श्रमणों को बार-बार नमस्कार कर श्रामण्य अंगीकार करो। 28 मूलगुणरूप चारित्र ग्रहण करो।

शमबोधवृत्त तपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तं।। आत्मानुशासन-15।।

(आ. गुणभद्र)

—शम (कषायों का उपशम), ज्ञान, चारित्र और तप (बिना सम्यक्त्व के) पाषाण के भारवत् हैं और पुरुष के वे ही यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो मणि के समान पूज्य हैं।

जह तारायणसहियं ससहरबिम्बं खमण्डले विमले।
भाइ य तह वय विमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।। भावपाहुड़-144।।

—जैसे निर्मल आकाश में तारागणसहित चन्द्रमा का बिम्ब शोभित होता है, वैसे ही व्रतों में निर्मल तथा सम्यग्दर्शन से शुद्ध जिनलिंग (निर्ग्रन्थ नग्न मुनिवेश) शोभित होता है।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ वि सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं।। चारित्र पाहुड़-9।।

—जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्व चरण से शुद्ध होते हैं यदि वे चारित्र से भी अच्छी तरह शुद्ध हों तो शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं। अकेले सम्यग्दृष्टि होने से नहीं।

स्याद्वाद्कौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानय परस्पर तीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमि मिमां स एकः।। समयसार कलश।

(स्याद्वाद अधिकार-21)

—स्याद्वाद की कुशलता और सुनिश्चल संयम-चारित्र के द्वारा जो निरंतर संलग्न होकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है तथा ज्ञान (सम्यक्त्व सहित) और क्रिया-नय की मित्रता ने जिसे पात्र बना दिया है, ऐसा एकमात्र (बिरला) जीव ही समयसाररूप (तृतीय) भूमिका का आरोहण करता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और संयम-चारित्र परस्पर पूरक हैं। तभी दोनों का महत्त्व है। सिक्का कभी एक पहलू का नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनका सद्भाव है।

आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित पदस्थ ध्यान

–डॉ. सूरजमुखी जैन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थो में जीव का चरम लक्ष्य मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि है। अर्थ और काम के द्वारा सांसारिक विनश्वर सुख प्राप्त किया जा सकता है, धर्म शाश्वत सुख, मोक्ष का साधक है और मोक्ष साध्य है। अनादिकाल से सम्बद्ध कर्मों से पूर्णतः मुक्त हुए बिना जीव को अनन्त और अविनाशी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। बंध के कारण मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग के अभाव से नये कर्मों के न आने तथा पूर्व समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर संपूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना ही मोक्ष है।[1] मोक्ष-प्राप्ति का उपाय सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता है।[2] आचार्य नेमिचन्द्र ने व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को तथा निश्चयनय से इन तीनों स्वरूपों को अपनी आत्मा के ही मोक्ष का कारण कहा है।[3] क्योंकि शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं रत्नत्रय नहीं रहता है।[4] व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधक है, बिना व्यवहार-रत्नत्रय के निश्चय-रत्नत्रय की साधना नहीं हो सकती है। व्यवहार और निश्चय दोनों ही रत्नत्रय ध्यान के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं।[5] आचार्य उमास्वामी ने भी तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा[6] तथा आभ्यंतर तप ध्यान को निर्जरा का प्रमुख कारण बताया है।[7]

आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है।[8] आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं, शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है और धर्म्यध्यान परम्परा से मोक्ष का कारण है।[9] धर्म्यध्यान, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के भेद से चार प्रकार का है।[10] संस्थानविचय धर्म्यध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार भेद हैं। पिंडस्थ ध्यान में ध्याता मनवचनकाय की शुद्धिपूर्वक एकान्त में खड्गासन या पद्मासन में स्थित होकर अपने शरीर में स्थित निर्मल गुणवाले आत्मा का ध्यान करता है। पदस्थ ध्यान में णमोकार मन्त्र के प्रत्येक पद में नमस्कार करने योग्य पंच परमेष्ठी के गुणों का चिन्तन किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में ध्याता किसी भी अरिहन्त की प्रतिमा का

ध्यान कर उसके स्वरूप पर विचार करता है और रूपातीत ध्यान में सिद्ध परमेष्ठी के समान अपने शुद्धस्वरूप का विचार किया जाता है।

ध्यान के लिये ध्याता को सर्वप्रथम राग, द्वेष और मोह का त्यागकर अपने चित्त को निर्मल करना आवश्यक है।[11] आचार्य नेमिचन्द्र ने बृहद् द्रव्यसंग्रह में पदस्थ ध्यान का विस्तृत विवेचन करते हुए पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी निरूपण किया है। पदस्थ ध्यान का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

पणतीससोल छप्पणचदुदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचियाणं अण्णं व गुरुवएसेण।।[12]

पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पैंतीस, सोलह, छः, पॉच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपदों का जाप और ध्यान करो। इनके अतिरिक्त गुरू के उपदेशानुसार अन्य मन्त्रपदों का भी जाप और ध्यान करो। पणतीस—1 णमो अरिहंताणं, 2 णमो सिद्धाणं, 3 णमो आयरियाणं, 4 णमो उवज्झायाणं, 5 णमो लोएसव्वसाहूणं, ये पाँच मन्त्रपद हैं, जिनके कुल 35 अक्षर हैं, ये सर्वपद कहलाते हैं। सोल—अरिहन्त सिद्ध आचार्य उवज्झाय और साहू ये 16 अक्षर पंचपरमेष्ठी के नामपद हैं। छः—अरिहन्त, सिद्ध ये छः अक्षर अर्हत और सिद्ध दो परमेष्ठियों के नामपद हैं। पण—अ सि आ उ सा ये पॉच अक्षर पंच परमेष्ठी के आदिपद हैं। चदु—अरिहन्त, ये चार अक्षर अर्हत परमेष्ठी के नामपद हैं। दुग-सिद्ध ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं। एगं—'अ' यह एक अक्षर अर्हत परमेष्ठी का आदिपद है। 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों का आदिपदरूप है। 'ओं' में अर्हत का प्रथम अक्षर 'अ' अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ' आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उवज्झाय का प्रथम अक्षर 'उ' तथा साहू (मुनि) का प्रथम अक्षर 'म' सम्मिलित है। पदस्थ ध्यान में इन पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप और उनके गुणों का चिन्तन किया जाता है।

सर्वप्रथम 'णमो अरिहंताणं' पद में स्थित पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों के ध्येय अर्हंत परमेष्ठी के रूप का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं —

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमइयो।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।[13]

जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चार घातिया कर्मो को नष्ट कर दिया है, चारों घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से जिन्हें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (चार अनन्तचतुष्टय) की प्राप्ति हो गयी

है, जो सप्त धातु रहित परम औदारिक शरीर (शुभदेह) में विराजमान हैं, जो क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मरण, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद, इन अठारह दोषों से रहित अत्यन्त शुद्ध हैं, जो आत्मा के अनुजीवी गुणों को घातने वाले चार घातिया कर्मरूप शत्रु को नष्ट कर देने के कारण अरिहन्त तथा इन्द्रों एवं देवों द्वारा पंचकल्याणरूपी पूजा के योग्य होने से अर्हन् कहलाते हैं, जो चौंतीस अतिशय, आठ प्रतिहार्य तथा चार अनन्तचतुष्टय इन 46 गुणों से युक्त हैं[14], ऐसे अर्हत परमेष्ठी का पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान में चिन्तन करना चाहिए।

द्वितीय पद 'णमो सिद्धाणं' में स्थित पदस्थ तथा रूपातीत ध्यान के ध्येयभूत सिद्धपरमेष्ठी के स्वरूप को बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं –

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो।।[15]

जिन्होंने चार घातिया कर्मो को नष्ट करने के बाद परमशुद्ध ध्यान के द्वारा शेष चार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर दिया है, आठों कर्मो के नष्ट हो जाने से जिनके सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य और अव्याबाध ये आठों गुण प्रकट हो गये हैं[16], जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण पाँचों प्रकार के शरीर से मुक्त हो गये हैं, जो अलोकाकाश सहित तीन लोक के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को उनके समस्त पर्यायों के साथ एक समय में ही जानने और देखने वाले हैं, जो निश्चय-नय से आकार रहित हैं, किन्तु व्यवहारनय से अपने अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार (पुरुषाकार) को धारण करने वाले हैं, जो सिद्धि को प्राप्त कर लेने के कारण सिद्ध कहलाते हैं, जो लोक के शिखर पर विराजमान हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।

तृतीय पद 'णमो आयरियाणं' में स्थित आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं –

'दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्रवरतवायारे
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरियो मुणीं झेयो।[17]

जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार तथा तपाचार इन पाँच प्रकार के आचारों के पालन में स्वयं भी तत्पर रहते हैं और अन्य शिष्यों को भी तत्पर

रखते हैं, जो बारह तप, दश धर्म, पाँच आचार, छः आवश्यक तथा तीन गुप्ति का पालन करते हैं वे आचार्य परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं।

चतुर्थ पद 'णमो उवज्झायाणं' की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं –

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो

सो उवज्झायो अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स।[18]

जो रत्नत्रय की आराधना में संलग्न रहते हैं तथा सदैव उत्तम क्षमादि दश धर्मो का एवं परद्रव्यों से भिन्न निज शुद्धआत्म द्रव्य का उपदेश देते रहते हैं, जो मुनियों में प्रधान हैं ऐसे 11 अंग और 14 पूर्व के ज्ञाता[19] उपाध्याय परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये। पंचमपद 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद के ध्येयभूत साधु परमेष्ठी का स्वरूप निम्न प्रकार बताया है –

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।

साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।।[20]

जो सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान सहित मोक्ष के मार्गभूत शुद्ध सम्यक्चारित्र की साधना में तत्पर रहते हैं, जो पाँच महाव्रत और पाँच समिति का पालन करते हैं, पाँचों इन्द्रियों को नियन्त्रित रखते हैं[21] छः आवश्यक (सामायिक, जिनेन्द्र देव की स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग) तथा शेष सात गुण[22] (अस्नान, मंजन का त्याग, वस्त्रत्याग, रात्रि के पिछले प्रहर में भूमि पर एक करवट से शयन, दिन में एक बार पाणिपात्र में अल्पाहार केशलोंच तथा 22 परीषहों का सहन)[24] का पालन करते हैं, लोक में स्थित ऐसे समस्त साधुओं का ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र ने पदस्थ ध्यान के ध्येयभूत पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है। निश्चयनय से ये पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही स्थित हैं। अतः शुद्ध आत्मद्रव्य ही ध्येय है।

–अलका, 35 इमामबाड़ा
मुजफ्फनगर

---

1. बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः–तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी 10, 2
2. सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, वही 1, 1
3. सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
   ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइयो णियो अप्पा।।
   बृहद् द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र, गाथा। 39

4. रयणत्तय ण वट्टइं अप्पाण मुइत्तु अण्णदवियदिम। वही, 40
5. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जे मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तंचित्ता जूयं झाण समब्भसह।। वही, 47
6. तपसा निर्जरा च, तत्त्वार्थसूत्र 9, 3
7. वही, 9, 20
8. आर्वरौद्रधर्म्यशुक्लानि, तत्त्वार्थसूत्र 9, 28
9. परे मोक्ष हेतु, वही 9, 29
10. आज्ञापाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम् 8, 36
11. मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
घिरमिच्छह जइ चित्तं विचितज्झाणप्पसिद्धीए।।
वृहद् द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र 48
12 बृहद् द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द, 49
13. वृहद्द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र 50
14. चौबीसों अतिशय सहित प्रतिहार्व पुनि आठ,
अनन्तचतुष्टय गुणसहित, ये छयालीसों पाठ-महामन्त्र णमोकार वैज्ञानिक अन्वेषण, सम्पादकीय।
15. वृहद्द्रव्य संग्रह आचार्य नेमिचन्द्र, 51
16 समकित दरसनं ज्ञान अगुरुलघु अवगाहना ।
सूक्ष्म वीरजवान निराबाधगुण सिद्ध के।
महामन्त्र णमोकार वैज्ञानिक अन्वेषण संपादकीय।
17. वृहद्द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र, 52
18. द्वादश तप दश धरमजुत पालै पचाचार।
षट आवश्यक त्रिगुप्तिजुत आचारजपदसार।
19. वृहद् द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र, 53
20. चौदह पूरव को धरे ग्यारह अंग सुजान।
उपाध्याय पच्चीस गुण पढ़ैं पढ़ावैं ज्ञान।
21. वृहद् द्रव्यसग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र, 54
22. पंच महाव्रत समिति पंच, पचेन्द्रिय का रोध
षट् आवश्यक साधु गुण शेप सात अववोध।
महामन्त्र णमोकार वैज्ञानिक अन्वेषण, सम्पादकीय
23. समता सम्हारै थुति उचारैं वन्दना जिनदेव की
नित करै प्रतिकृति करै श्रुतिरति तजैं तन अहमेव की।
छ. ढाला, दौलतराम 6, 5
24. जिने न न्हौन न दंतधोवन लेश अंबर आवरन।
भू माहिं पिछली रयन में कछु शयन एकाशन करन।
इकबार दिन मे लै आहार खड़े अलप निजपाणि में
कचलोंच करत न डरत परिषह सों लगे निज ध्यान में। वही 6, 5, 6

आदिपुराण में लोक-संस्कृति

—राजमल जैन

आदिपुराण मूलरूप से आदिनाथ और चक्रवर्त्ती भरत के चरित और उनके भव-भवांतर से संबंधित है। प्रसंगवश उसमें अन्य भव्य जीवों और निमित्तज्ञानी मुनियों एवं काव्योचित प्रकृतिवर्णन आदि की बहुलता है। इस कारण से उसमें लोक-संस्कृति ढूँढ़ पाना महासागर में से मोती निकालने के समान है। उसके दोनों भागों के लगभग बारह सौ पृष्ठों के अवलोकन के बाद मैंने इस विषय पर कुछ सामग्री एकत्रित की है। सभी बिदुओं से संबंधित श्लोक देना भी संभव नहीं हो सकता है। फिर भी कुछ दिए गए हैं।

आठवीं सदी के इस महाकाव्य से संबंधित ऐतिहासिक परिस्थिति का संक्षेप में उल्लेख करना भी आवश्यक लगा, जिसे इस लेख के अंत में दिया गया है।

विद्वान् — ऐसा लगता है कि जिनसेनाचार्य ने विद्वानों को भी कुछ सुनाई है। कहीं उन्हें विद्वत् कहा है और कहीं बुधजन या कोविद। उनकी कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं —

1. विद्वान् लोग हेतु, हेत्वाभास, व्याकरण और छल के पंडित या कोविद होते हैं। आज की भाषा में तिकड़मी या एक दूसरे की टाँग खींचने वाले होते हैं। 7–64।

2. विद्वानों को लोभ नहीं करना चाहिए।

3. जो बुधजन अभ्युदय प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें पहले पुण्य संचय करना चाहिए। 15–22

4. आचार्य ने विद्वानों को महत्वपूर्ण पद प्राप्त कराने की बात भी कही है। उन्होंने कहा है कि राजा को विद्वानों के आश्रय में रहना चाहिए। यह उक्ति गुणभद्राचार्य की है। विद्वान् 'एडवाइज़र' हो सकते हैं। 43

बाल काले करना — भरत की सेना के कुछ सैनिक बालों में खिजाब लगाकर, आँखों में काजल लगाकर वृद्ध होते हुए भी तरुण के समान आचरण करते हुए किसी कुट्टिनी के पीछे भाग रहे थे। 29-120

सेवक का वेतन – गुणभद्राचार्य का कथन है कि जयकुमार और अर्ककीर्ति के युद्ध के समय बाण मुट्ठियों द्वारा चलाए जा रहे थे और वे अपने स्वामियों की सिद्धि उसी प्रकार कर रहे थे, जिस प्रकार सेवक मुट्ठियों से दिए हुए अन्न पर निर्भर करते हैं। 44-125

वस्त्र – जिस समय भरत की सेना गिरनार के आसपास के सोरठ प्रदेश में पहुँची, उस समय उसने वहाँ के लोगों को रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते पाया। लोगों ने भरत को चीनपट्टांब भेंट किए। 30-103

विभिन्न प्रदेशों के लोगों की विशेषताएँ – 29-78

1. कर्नाटक देश के लोगों को हल्दी, ताम्बूल या पान, अंजन या सुरमा और यश प्रिय है। 29-91 तथा आगे

2. आंध्र प्रदेश के निवासी कृपण या कंजूस हैं, हृदय से भी कठोर हैं।

3. केरल के लोग गोष्ठी में प्रवीण तथा सरल वार्त्तालाप करने वाले हैं।

4. कलिंग देश के लोगों को हाथी बहुत प्रिय हैं और वे कला-कौशल में धनी हैं।

5. सिंहल देश की स्त्रियाँ नारियल की मदिरा का पान करती हैं।

6. पाण्ड्य देश के लोगों को हाथी अधिक प्रिय है। इत्यादि

वाराणसी–में तो पापी लोग उत्पन्न ही नहीं होते हैं। पता नहीं जिनसेनाचार्य वाराणसी गए भी थे या नहीं। आज तो वहाँ का चित्र ही दूसरा है। लोग कहते हैं कि राँड़, साँड़, सीढ़ी, सन्यासी, इनसे बचे सो सेवे काशी। 43-124

पूजा

जिनेंद्र-पूजा–में सुपारियों के गुच्छे, नारियल, कटहल आदि का प्रयोग किया जाता था। यह प्रथा अब भी है। केले भी चढ़ाए जाते हैं। 17-252

अस्त्र-पूजा–भरत ने अपनी दिग्विजय यात्रा में अपने अस्त्रों की पूजा की थी। दक्षिण भारत में अस्त्रों, वाहनों आदि की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। दशहरे के दिन उसका विशेष महत्व है। 32-86

धूप-घट–चक्रवर्ती भरत आदिनाथ के समवसरण में जब पहुँचे तो उन्होंने वहाँ दो धूप-घट देखे। उनमें सुगंधित द्रव्य का ईधन भरा हुआ था। मंगल-घटों में जल होता है। केरल में वीबी मस्जिद का जो जुलूस निकलता

है, उसे चंदनक्कूडम कहते हैं। उसमें लोग सिर पर इसी प्रकार से सुगंधित चंदन की खुशबू बिखेरते चलते हैं। केरल में अनेक जैन-मंदिर, मस्जिद के रूप में परिवर्तित किए गए हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा। संभव है कर्नाटक में भी किसी समय यह प्रथा रही हो। 33-43

वर्षवृद्धि महोत्सव BIRTHDAY इस उत्सव के नाम पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जन्मदिन नहीं, वर्षवृद्धि, जो कि बढ़ती जा रही आयु का स्मरण कराती है। इस अवसर पर राजा मंत्रियों, सेनापतियों के साथ ही साथ श्रेष्ठियों को भी आमंत्रित करता था। 5-1

वंदनवार—भरत ने अपने महल में, गोपुरों में बंदनवार लगवाई थी। उसमें 24 घंटियाँ लगाई गई थीं। वे चौबीस तीर्थकरों की प्रतीक थीं। आते-जाते भरत उन्हें प्रणाम करते थे। आचार्य जिनसेन का कथन है कि उसी समय से अपने घरों के दरवाजों पर बंदनवार लगाने की प्रथा चली है। 41-87-96

ताम्बूल या पान—अपने काव्यरत्न में आचार्य जिनसेन दक्षिण के लोगों को विशेष रूप से प्रिय पान को नहीं भूलते हैं। उनका कथन है —

ताम्बूलमिव संयोगादिदं रागविवर्धनम्।
अन्धकारमिवोत्सर्पत्सन्मार्गस्य निरोधनम्।। 5-129

जिस प्रकार पान चूना, सुपारी आदि का संयोग पाकर लालिमा को बढ़ाता है, उसी प्रकार ये विषय भी स्त्री-पुत्रादि का संयोग पाकर राग को बढ़ाते हैं और अंधकार के समान सच्चे मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं।

विजयनगर की राजधानी आजकल हम्पी कहलाती है। वहाँ की एक सड़क प्राचीन काल की तरह पान-सुपारी बाजार कहलाता है, किंतु अब वहाँ पान नहीं मिलते। कुछ लोग वहाँ रहते हैं।

मुनि क्षत्रिय हैं—जिनसेनाचार्य ने मुनियों का भी दर्जा बढ़ा दिया है। उनका मत है कि ऋषभदेव ने सबसे पहले क्षत्रिय वर्ण की स्थापना की थी। वे स्वयं भी क्षत्रिय थे। मुनि ऋषभदेव के वंश में उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि उनका जन्म भी आदिनाथ द्वारा प्रवर्तित रत्नत्रय के अधीन हुआ है। जन्म दो प्रकार का है एक तो माता के गर्भ से, दूसरा संस्कारों से या दीक्षा के समय होना माना जाता है। इसीलिए सुरेंद्र विद्यानंद कहलाने लगते हैं। 42-28

चावलों की खेती—आचार्य का गहन परिचय चावलों की खेती से ही

अधिक जान पड़ता है। जहाँ भी अवसर हुआ, वहाँ उन्होंने धान की खेती का ही विस्तापूर्वक वर्णन किया है। यदि प्रस्तुत लेखक भूल नहीं करे तो आचार्य ने अन्य प्रकार की फसलों का जिक्र नहीं किया है। उन्होनें इतना विपुल साहित्य रचा है कि सम्भवतः उन्हें अन्य प्रदेशों में भ्रमण का अवसर नहीं मिला। वे सिंधु प्रदेश में घोड़ों से, केरल, चोल आदि देशों में हाथियों से परिचित हैं किंतु गेहूँ बाजरा आदि का उल्लेख शायद उन्होंने नहीं किया, हालांकि वे कुरुजांगल प्रदेश का उल्लेख करते हैं। अस्तु।

चावलों की खेती का जिनसेनाचार्य ने बड़ा सजीव वर्णन किया है। धान के खेतों में स्त्रियाँ हाथ में हँसिया लेकर काम करती दिखाई देती हैं। उनके माथे से पसीने की बूँदें टपक रही हैं।

हल्दी का उबटन—भरत ने जब दिग्विजय के लिए प्रस्थान का निश्चय किया, तब पके चावलों की खेती ऐसी शोभित हो रही थी जैसे पति के आगमन का समय हो जाने पर कोई स्त्री हल्दी का उबटन लगाकर बैठी हो। इस प्रकार के उबटन का आदिपुराण में अनेक प्रसंगों पर उल्लेख है। 26-17

आमोद-प्रमोद—मनोरंजन के साधनों का कुछ परिचय भी हमें आदिपुराण में उपलब्ध होता है। भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ है और इन्द्र भावविभोर होकर नृत्य कर रहा है। उसकी भुजाओं पर देवियाँ नृत्य करती हुई ऐसी लग रही थीं जैसे लकड़ी की कठपुतलियां का नाच ही हो रहा हो। 14-150

इसी प्रकार इन्द्र नृत्यांगना देवियां को ऐसा घुमाता था कि वे ऐसी मालूम होती थीं जैसे कोई यंत्र की पटरियों पर लकड़ी की पुतलियों को घुमा रहा हो। 14-151

इन्द्रजाल-बाजीगरी—नृत्य करता इन्द्र अनेक प्रकार के करतब दिखाता था। कभी वह देवियों को गायब कर देता था तो कभी आकाश में नृत्य करते हुए प्रदर्शित करता था। 14-151

दाण्डिया-नृत्य—भगवान बालकों को दाण्डि क्रीड़ा में नचाते थे। 141-200

झूला—मांगलिक अवसरों पर स्त्रियाँ गीत गाते हुए झूमती हुई झूलों का आनंद लेती थी। 36-223

स्पष्ट है कि आमोद-प्रमोद के ये साधन महाकवि के समय में प्रचलित मनोरंजन के साधन थे।

मंत्रों, बीजाक्षरों में विश्वास—लोग पिशाच आदि की बाधा से मुक्ति के

लिए मंत्रों में विश्वास करते थे। पुराण में पाँच अक्षर, छः अक्षर आदि के अनेक मंत्र दिए गए हैं। एक पूरा अध्याय ही इनसे भरा हुआ है। उन सबकी चर्चा यहाँ संभव नहीं है।

स्त्रियों की स्थिति

कन्या पर अतिथि का अधिकार—एक चौंकाने वाली बात आचार्य ने लिख दी है और उसके समर्थन में लिखा है "इति श्रूयते" अर्थात् यह सुनने में आता है, ऐसा लिख दिया है।

प्रसंग है—चक्रवर्ती वज्रदन्त ने अपने बहनोई वज्रबाहु से अपने पुत्र वज्रजंघ से विवाह के लिए उनकी कन्या का हाथ माँगा और निम्न प्रकार कहा —

अथवेतत् खलूक्त्वायं सर्वथार्हति कन्यकाम्।

हसन्त्याश्च रुदन्त्याश्च प्राघूर्णक इति श्रूयते। 17-196

अर्थात् गुण, कुल आदि का कथन व्यर्थ है। लोक में ऐसा सुना जाता है कि कन्या चाहे हँसती हुई हो या रोती हुई हो प्राघूर्णक यानी अतिथि उसका अधिकारी होता है।

विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए।

सब रत्नों में कन्या-रत्न श्रेष्ठ—यह भी आचार्य की उक्ति है।

विद्यावती स्त्री सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करती है। स्वयं आदिनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि की और सुंदरी को गणित की उच्च शिक्षा दी थी।

संपत्ति में अधिकार—पुत्री को पिता की संपत्ति में समान अधिकार संभवतः आदिपुराण में तो नहीं है किंतु वैदिक धारा के स्कंदपुराण से यह सूचना मिलती है कि भरत ने अपने आठ पुत्रों को आठ द्वीपो का राज्य दिया था और हमारे इस नौवें कुमारी द्वीप का राज्य अपनी यशस्विनी कन्या कुमारी को दिया था। कुमारी द्वीप का प्रयोग संपूर्ण भारत के लिए और केरल के अर्थ में भी किया जाता है।

समान आसन—जहाँ भी राजाओं का वर्णन आया है, वहाँ आचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि रानियों को समान आसन प्रदान किया जाता था। इसका अर्थ यह भी हुआ कि पर्दा नहीं किया जाता था।

स्त्रियों का शृंगार—महिलाओं की चोटियों पर फूलों की मालाएँ लटकती रहती थीं। यह तथ्य यह सूचना भी देता है कि जिनसेनाचार्य का विहार संभवतः

दक्षिण प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य देशों में नहीं हुआ था, अन्यथा वे चोटियों में फूलमाला पर जोर नही देते। 18-153

उबटन—अभी यह कहा जा चुका है कि हल्दी के उबटन का प्रयोग नित्य प्रति और विवाह आदि अवसरों पर किया जाता था। उस समय लक्स नहीं मिलता था। 26-17

विवाह और उसकी विधि—

मामा की लड़की से विवाह होता था। दक्षिण भारत में आज भी होता है।

विवाह के अवसर पर कन्या को पटिए पर बैठाकर, उबटन लगाकर, स्नान कराने के बाद विवाह-मंडप में ले जाया जाता था। देवदर्शन कराने की भी प्रथा थी। मंगल-गीतों के साथ कन्या को मंडप में लाते थे। 44-255-264

सती प्रथा थी, ऐसा लगता है। युद्ध में मारे गए सैनिकों के साथ ही अनेक स्त्रियाँ अपने प्राण दे दिया करती थीं। 44-297

भक्ति रोती आई

जिनसेनाचार्य ने वैदिकों से मिलते-जुलते जो कथन किए हैं, उनकी पृष्ठभूमि समझ लेनी चाहिए। श्रीमद्भागवत में एक श्लोक निम्न प्रकार आया है—

उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता।।
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डितांगका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।।

भक्ति नारदजी के पास रोती हुई आई और कहने लगी कि मेरा जन्म द्रविड़ देश में हुआ था। स्मरण रहे, जैनों और बौद्धों का प्रभाव तमिलनाडु में कम करने के उद्देश्य से शिव-भक्ति आंदोलन शुरू हुआ था। वह कर्नाटक में वृद्धि को प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र और गुजरात में कमजोर हो गया। घोर कलियुग के पाखण्डियों के कारण मैं खंडित हो गई हूँ। अपने पुत्रों—ज्ञान और वैराग्य सहित मंद हो गई हूँ। अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म के प्रमुख लक्षण ज्ञान और *वैराग्य तो अब बूढ़े या शक्तिहीन हो चुके हैं और भक्ति-आंदोलन को भी* पाखण्डियों से खतरा है, इसलिए नारदजी उपाय बताइये। नारदजी ने उससे कहा कि हरि या विष्णु की भक्ति से सब कुछ ठीक हो जाएगा।

इसी भक्ति-आंदोलन से संभवतः शंकित होकर जिनसेनाचार्य ने भक्तिवादियों की मान्यताओं को जैन-रूप दिया। संक्षेप में कुछ रूप आदिपुराण से ही ग्रहीत हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

1. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सनातन धर्म हैं। 5-23

2. ऋषभ ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। 14-37

3. शिव को मानने वाले उनकी आठ मूर्तियाँ मानते हैं। जिनसेनाचार्य ने ठीक उसी प्रकार की आठ मूर्तियों की विद्यमानता ऋषभदेव में घटित की है। 14-47

4. आदिनाथ के दस भवों को दशावतार कहा है। विष्णु को मानने वाले विष्णु के दस अवतार मानते हैं। ऋषभदेव भी उनमें से एक हैं। 14-51, 14-104

5. द्वादशांग जिन-श्रुत को आचार्य ने वेद की संज्ञा दी है। 24-39

गंगाजल

6. गंगाजल को जिनसेनाचार्य ने पवित्र बताया है। उसी से आदिनाथ का अभिषेक किया गया था, यद्यपि उनका शरीर स्वयं ही पवित्र था।

7. गंगा ऋषभदेव की वाणी के समान पवित्र है। 27-3

ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति-आंदोलन के प्रभाव से बचाने के लिए आचार्य ने ये नई व्याख्याएँ की होंगी। जो भी हो उनके युग की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का परिचय तो उनसे मिलता ही है।

उधर तमिलगम और केरल में आचार्य के युग में भी जैन-चरितों यथा जीवक चिंतामणि-जीवंधरस्वामीचरित का शैवों द्वारा पठन को लेकर शैवों में चिंता बढ़ती जा रही थी। उसकी परिणति पेरियपुराणम् के रूप में हुई। इस पुराण के नाम का अर्थ भी महापुराण है। उसमें भी आदिपुराण और उत्तरपुराण की भाँति 63 शैव और वैष्णव-भक्तों का परिचय है। जैन-महापुराण में 63 शलाकापुरुषों या श्रेष्ठ पुरुषों का चरित्र वर्णित है।

—बी-1/324, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058

जैन-परम्परा में सृष्टि-संरचना

—डॉ. कमलेश कुमार जैन

जैनदर्शन में छह द्रव्य स्वीकार किये गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से आकाश दो भागों में विभक्त है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में आकाश के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्य भी ठसाठस भरे हुये हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश ही आकाश है। लोकाकाश या लोक को ही जैन-परम्परा में सृष्टि के रूप में स्वीकार किया गया है, अर्थात् उपर्युक्त छह द्रव्यों से लोक या सृष्टि का निर्माण हुआ है।

इन छहों द्रव्यों को दो भागों में विभक्त करने पर जीव और पुद्गल—ये दो मूल द्रव्य ही शेष रहते हैं। चेतना-युक्त जीव के अतिरिक्त संसार में जो भी दिखलाई दे रहा है, वह सब अजीब या पुद्गल है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चारों भी वस्तुतः पुद्गल की पर्यायें हैं। अतः जैनेत्तर भारतीय दर्शनों में जो जड़ और चेतन की बात कही गई है, वही अपने कुछ वैशिष्ट्य के साथ जैनदर्शन में भी स्वीकृत है।

जिसमें ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग (अर्थात् हलन-चलन रूप आत्मा) पाया जाये वह जीव है। इसका कार्य परस्पर एक-दूसरे का उपकार करना है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पाया जाये वह पुद्गल है। शरीर, वचन, मन, उच्छ्वास और निःश्वास तथा सुख, दुख, जीवन और मरण—ये सब पुद्गल के कार्य हैं। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत (ठण्डा प्रकाश)—ये सभी पुद्गल की पर्यायें हैं। जीव और पुद्गल के चलने में जो सहायक हो, वह धर्म है और उनके रुकने में जो सहायक हो वह अधर्म है। लोक-प्रचलित धर्म और अधर्म शब्दों से ये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सर्वथा भिन्न हैं। आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में इन्हीं धर्म और अधर्म द्रव्य को क्रमशः तेजोवाही ईथर (Eumanitenous-ether) और क्षेत्र (Field) का स्थानापन्न माना जा सकता है। जो ठहरने को स्थान दे, वह आकाश-द्रव्य है। इसे ही वैज्ञानिक शब्दावली में स्पेस (Space) कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण स्वतः नवीन पर्याय को धारण

पर्याय को धारण करता है, किन्तु उसके परिवर्तन में जो साधारण कारण है, वह काल है। इसके वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व—ये कार्य हैं। जैन-परम्परा में इन्हीं छह द्रव्यों का समूह लोक या सृष्टि कहलाता है।

यह लोक तीन भागों में विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। मध्यलोक के ठीक बीच में एक लाख चालीस योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है। वर्तमान में जहाँ हम निवास कर रहे हैं, वह मध्यलोक है। इस मध्यलोक से सात राष्ट्र ऊपर और सात राष्ट्र नीचे—इस प्रकार कुल चौदह राष्ट्र, ऊँचा यह लोक है। इसके ठीक मध्य में एक राष्ट्र लम्बी चौड़ी और कुछ कम तेरह राष्ट्र ऊँची त्रसनाली है। सामान्यतया इस त्रसनाली में ही जीव पाये जाते हैं, अतः यह त्रसनाली कहलाती है।

दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखे हुये सिर-विहीन पुरुष के समान इस लोक का आकार है।

जैन परम्परा के अनुसार मध्यलोक थाली के आकार की तरह गोल है। जैसा कि पूर्व में बतलाया है कि इसके ठीक मध्य में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत के चारों ओर गोलाकार एक लाख योजन लम्बा और चौड़ा जम्बूद्वीप है। पुनः उसके चारों ओर लवणोदधि (लवण समुद्र) है। इस प्रकार क्रमशः चूड़ी के आकार वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं अर्थात् जम्बूद्वीप से दुगुना लवणोदधि, पुनः उससे दुगुना धातकीखण्ड, पुनः उससे दुगुना कालोदधि, तदनन्तर उससे दुगुना पुष्करवर द्वीप है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधे पुष्करवरद्वीप और उनके मध्य आने वाले लवणोदधि और कालोदधि में ही सामान्यतया मनुष्यों का निवास है, अतः उक्त दो समुद्रों सहित ढाई द्वीप वाले क्षेत्र को मनुष्यलोक भी कहते हैं।

तृतीय पुष्करवर द्वीप के पश्चात् पुष्करवर समुद्र, पुनः चौथा वारूणीवर द्वीप और उसके बाद वारूणीवर समुद्र, इसी प्रकार क्रमशः पाँचवाँ क्षीरवर द्वीप—क्षीरवर समुद्र, छठा घृतवर द्वीप—घृतवर समुद्र, सातवाँ इक्षुवर द्वीप—इक्षुवर समुद्र, आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप—नन्दीश्वर समुद्र, नौवाँ अरुणवर द्वीप—अरूणवर समुद्र और दसवाँ कुण्डलवर द्वीप—कुण्डलवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुये क्रमशः असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। तेरहवाँ रुचकवर द्वीप और रूचकवर समुद्र है। सबसे अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है।

अधोलोक में एक के नीचे दूसरी और दूसरी के नीचे तीसरी—इस प्रकार क्रमशः नीचे-नीचे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नामक सात नरक भूमिया हैं। ये नाम उन-उन भूमियों की कान्ति के आधार पर यौगिक नाम हैं। इनके रूढ़ि नाम तो क्रमशः धम्मा, वंशा, मेघा अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी है। इन सात नरक भूमियों के नीचे निगोद है।

ऊर्ध्वलोक में सर्वप्रथम सोलह स्वर्ग हैं। सर्वप्रथम दायें-बायें एक साथ प्रथम और द्वितीय स्वर्ग हैं। पुनः इन दो स्वर्गो के ऊपर तीसरे और चौथे स्वर्ग हैं। इसी प्रकार ऊपर-ऊपर पाँचवें और छठे आदि आठ युगल अर्थात् सोलह स्वर्ग हैं, जिनके नाम हैं—सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत और धारण-अच्युत। इन सोलह स्वर्गो के कुल बारह इन्द्र (राजा) हैं। प्रथम दो युगलों अर्थात् सौधर्म-ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन चार स्वर्गों में प्रत्येक के एक-एक अर्थात् चार स्वर्गो के चार इन्द्र हैं। तदनन्तर तीसरे, चौथे, पाँचवें एवं छठे युगलों (अर्थात् पाँचवें से बारहवें स्वर्ग तक) में प्रत्येक युगल के एक-एक अर्थात् चार इन्द्र और शेष सातवें एवं आठवें युगलों (अर्थात् तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक) के प्रत्येक स्वर्ग के एक-एक अर्थात् चार इन्द्र—इस प्रकार सोलह स्वर्गों के कुल बारह इन्द्र हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर-ऊपर क्रमशः पहले नौ ग्रैवेयक, पुनः नौ अनुदिश, तदनन्तर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामक विमान हैं। इसके पश्चात् सबसे ऊपर मनुष्यलोक प्रमाण पैंतालीस लाख योजन समतल अर्द्धचन्द्राकार सिद्धशिला है, जिस पर सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने वाले अनन्तानन्त सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

इन तीन लोकों के चारों ओर घनोदधि-वातवलय, घनवातवलय और तनु-वातवलय हैं, जो क्रमशः सघन जल और वायु, सघन वायु एवं हल्की वायु के वलय अर्थात् घेरे हैं। यही तीनों वलय तीनों लोकों के आधार हैं और तीनों वलयों का आधार अलोकाकाश है तथा अलोकाकाश अपने ही सहारे अर्थात् स्व-प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक में विभाजित तीन लोकों का वर्णन जैनशास्त्रों में मिलता है, जो लोकाकाश के रूप में जाने जाते हैं। यह लोकाकाश ही वस्तुतः जैन-परम्परा के अनुसार सृष्टि का ढाँचा या कलेवर है। यह सृष्टि-संरचना अनादिकालीन है और अनंतकाल तक रहेगी।

ऊपर जिन छह द्रव्यों की चर्चा की गई है तथा जिनसे यह लोक निर्मित बतलाया गया है, उनमें एक काल-द्रव्य भी है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय होने वाले परिवर्तन में जो साधारण कारण है वह काल-द्रव्य है। समय काल की सबसे छोटी विभाज्य इकाई का नाम है और इसकी सबसे बड़ी इकाई कल्पकाल है। कल्पकाल की गणना सम्भव न होने से इसे असंख्यात वर्ष भी कहा जाता है। पुनः कल्पकाल दो भागों में विभक्त है—उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल। उत्सर्पिणी काल में जीवों में क्रमशः सुख आदि की वृद्धि होती है और अवसर्पिणी काल में क्रमशः सुख-सुविधाओं आदि का ह्रास होता है। वस्तुतः दोनों में यह अन्तर सुख-दुःखादि के बढ़ते या घटते क्रम का ही है।

इनमें से प्रत्येक को पुनः छह-छह आरों या कालों में विभक्त किया गया है। अवसर्पिणी काल में इनकी संज्ञा है—1. सुषमा-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमा-दुषमा, 4. दुषमा-सुषमा, 5. दुषमा और अन्तिम 6. दुषमा-दुषमा। इन्हीं छहों को विपरीत क्रम से रखने पर अर्थात् 1. दुषमा-दुषमा, 2. दुषमा, 3. दुषमा-सुषमा, 4. सुषमा-दुषमा, 5. सुषमा और अन्तिम, 6. सुषमा-सुषमा—ये छह उत्सर्पिणी काल के घटक हैं।

जैन-परम्परा के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल के अन्तर्गत यह पञ्चम दुषमा-काल चल रहा है और तीर्थ-प्रवर्त्तन की दृष्टि से यह जैनधर्म के वर्तमानकालीन चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का तीर्थ चल रहा है।

अवसर्पिणी काल के इस पञ्चम आरे के समाप्त होने के पश्चात् छठा आरा प्रारम्भ होगा। इस छठे आरे (काल) के प्रारम्भ होते ही लोग अनार्यवृत्ति को धारणकर हिंसक हो जाते हैं। तदनन्तर जब उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है तब श्रावण कृष्णा प्रतिपत् से सात सप्ताह अर्थात् उनचास दिनों तक विभिन्न प्रकार की वर्षा होती है और सुकाल पकता है। इस अवधि में अपने आयुष्यकर्म के फलस्वरूप विजयार्द्ध पर्वत की गुफाओं में छिपकर बचे हुये पुण्यशाली जीव बाहर आकर धर्मधारण करते हैं, जिससे अहिंसक आर्य-वृत्ति का उदय होता है।

इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार पुण्य-पाप का फल भोगते हुये जीवन-मरण को प्राप्त होते हैं तथा अनन्तकाल तक भवभ्रमण करते हैं। जो जीव तीव्र पुण्योदय के कारण तपश्चरण करते हुये वीतरागता को प्राप्त होते हैं वे काललब्धि आने पर अष्टकर्मों का नाशकर

सिद्धत्व को प्राप्त होते हैं और लोक के अग्रभाग सिद्धशिला पर विराजमान होकर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के स्वामी बन जाते हैं।

फोन नं. : (0542) 315323

—जैन दर्शन प्राध्यापक
निर्वाण भवन, बी-2/249 लेन नं. 14,
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-221005

शास्त्र स्वाध्याय का उद्देश्य-आत्म स्वरूप की प्राप्ति

जो अपने हृदय में 'अहं' मैं रूप में स्वानुभव में आता है, वह तो स्वात्मा है और जो आत्मा राग, द्वेष और मोह से रहित होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप हो जाता है। वह शुद्धात्मा कहलाने लगता है। शुद्ध स्वात्मा की प्राप्ति करते हुए योगी को चार शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं (1) श्रुति, (2) मति, (3) ध्यान और (4) दृष्टि। इन्हीं चार शक्तियों के आश्रय से योगी योग साधन करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। सबसे पहली शक्ति है 'श्रुति'। इसके आश्रय से—गुरुवाणी के द्वारा वह धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की ओर प्रवृत्ति करता है। तब 'मति' द्वारा उसकी श्रद्धा परिपक्व होती है, वृद्धि में स्थिरता आती है और श्रद्धा तेजस्वी बनती है। जब आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थिर मति और अड़िग श्रद्धालु बन जाता है और शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त किसी पर पदार्थ का भाव नहीं होता तो उसकी ध्यान शक्ति प्रकट होती है। इस अवस्था में वह स्व को छोड़कर पर में प्रवृत्ति नहीं करता है। तब उसके 'दृष्टि' विकसित होती है। इससे वह नितान्त अन्तर्मुखी हो जाता है और आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अवलोकन करने लगता है। इस अवस्था में पहुँचकर उसके सारे विकल्प नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही सारे शास्त्रों का मन्थन-अध्ययन किया जाता है। वास्तव में शास्त्र स्वाध्याय का परम उद्देश्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना ही है। यदि शास्त्रों के पठन-मनन से विद्वत्ता प्राप्त हो गई और आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई अथवा शास्त्र पढ़कर भी दृष्टि अन्तर्मुखी न हुई, तो वह सारी विद्वत्ता निरर्थक है। शास्त्र स्वाध्याय का उद्देश्य विवाद करना नहीं हैं, बल्कि उसका यथार्थ उद्देश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति करना है।

—पं आशाधरजी कृत अध्यात्म रहस्य से

एक जनोपयोगीकृति –

श्री सम्मेद शिखर मंगलपाठ

रचनाकार – सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)

प्राप्ति स्थान – श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट
वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागज, नई दिल्ली-110002

आधुनिक साज-सज्जा-युक्त उक्त कृति तीर्थराज सम्मेद शिखर के माहात्म्य को जन-जन तक पहुँचाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। वस्तुतः तीर्थक्षेत्र की वन्दना भावो की निर्मलता में निमित्त कारण है। यही कारण है कि हमारे परम्परित आचार्यो ने भी तीर्थक्षेत्र की भक्ति-वन्दना को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कविवर द्यानतराय, वृन्दावन आदि भक्तिरसिक कवियो ने जो पूजन-विधन रचे है, वे सभी भावो को निर्मल बनाने के लिए स्वान्तः सुखाय ही रचे है। यह बात अलग हे कि उनकी रचनाओं के माध्यम से भक्तजन आज भी अपनी मानसिक वेदना का शमन करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार श्री सुभाष जी ने भी स्वान्त. सुखाय ही वन्दना, पूजन, आरती की रचना की होगी, परन्तु वह रचना सर्व-जनोपयोगी बन गई है। सम्मेद शिखर की लम्बी वन्दना करते हुए इनके उपयोग से भावो मे निर्मलता का संचार होगा और विषय कषायो से कुछ समय के लिए ही सही, मुक्ति मिल सकेगी। श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट ने इसे प्रचारित कर सामयिक कदम उठाया है। अतः वह साधुवादार्ह है। प्रस्तुत कृति सग्रहणीय और मनन चिन्तन के लिए उपयोगी है। सामाजिक सस्थाओ मे अनेक दायित्वो का निर्वाह करते हुए रचनाकार श्री सुभाष जैन बधाई के पात्र है जिन्होंने सर्वजनोपयोगी रचनाओ का सृजन किया। शिखर जी ट्रस्ट को पत्र लिखकर पुस्तके निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

–डॉ. सुरेश चन्द्र जैन

53/4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हों। इसमें प्राय विज्ञापन एव समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष-५३ किरण-४
अक्टूबर-दिसम्बर २०००

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
११००/-
वार्षिक शुल्क
१५/-
इस अंक का मूल्य
५/-
सदस्यों व मंदिरों के लिए
नि.शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट
मुद्रक :
मास्टर प्रिंटर्स-११००३२

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यौं शुक नभचाल विसरि, नलिनी लटकायौ।।१।।

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध।
तजि जड़-रस-फरस-रूप, पुद्गल अपनायौ।।२।।

इन्द्रिय सुख-दुखमें नित्त, पाग राग रुख में वित्त।
दायक भवविपति वृन्द, बन्धकों बढ़ायौ।।३।।

चाह-दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै।
समता-सुधा न गाहै जिन, निकट जो बतायौ।।४।।

मानुष सुकुल पाय, जिनवरशासन लहाय।
''दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ।।५।।

- कविवर दौलतराम

वीर सेवा मंदिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२, दूरभाष : ३२५०५२२

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा ८०-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर १०५९१/६२)

सम्पादकीय

भगवान महावीर और उनकी प्रासंगिकता

जैन परम्परा में तीर्थकरों का सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि महामन्त्र 'णमोकार' में सिद्धों के भी पूर्व अरिहन्तों-तीर्थकर भगवन्तों को नमस्कार किया गया है। तीर्थकर शब्द तीर्थ उपपद कृ धातु से अप् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। तीर्थ शब्द तृ धातु से थक् प्रत्यय करने पर बना है। इस प्रकार तीर्थकर का अर्थ हुआ-वह महापुरुष जो तीर्थ-धर्म का प्रचार करे। कोई भी तीर्थकर किसी नवीन धर्म या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं करता है, अपितु वह धर्म का स्वयं साक्षात्कार करके लोककल्याणार्थ उसकी पुन: व्याख्या करता है, सुप्त मानवता को जगाता है तथा मानव मात्र को पापादिक से पार होने का मार्ग बताता है, संसार सागर से सतरण का उपाय दर्शाता है। तीर्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ पुल और घाट है तथा लाक्षणिक अर्थ धर्म है। नदी को पार करने के लिए जो उपयोगिता पुल और घाट की होती है, संसारमहार्णव को पार करने के लिए वही उपयोगिता धर्म की है। धर्म के साक्षात् उपदेष्टा तीर्थकर होते हैं, अत. उनका स्थान सर्वोपरि है।

भारत वसुन्धरा पर वर्तमान अवसर्पिणी काल में आद्य तीर्थकर नाभिपुत्र ऋषभदेव हुये। वेदों और अनेक वैदिक पुराणों में उनका प्रशस्य पुरुष के रूप में तथा अष्टम अवतार के रूप में उल्लेख हुआ है। वर्तमान जैन-तीर्थ भगवान् महावीर की स्मरणीय देन है, जो तीर्थंकर परम्परा की अन्तिम कडी के रूप में चौबीसवें तीर्थकर हुये हैं। इस अध्यात्मसूर्य का उदय आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व वैशाली गणतन्त्र के क्षत्रिय कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता वैशाली गणतन्त्र के उपनगर कुण्ड ग्राम के

अध्यक्ष थे तथा माता त्रिशला वैशाली गणाधिपति चेटक की पुत्री थी। बालक के जन्म के साथ ही राष्ट्र के ऐश्वर्य में वृद्धि होने लगी, अतः उसका नाम वर्द्धमान रखा गया। ३० वर्ष की युवावस्था में उन्होंने आत्मकल्याण और लोकाभ्युदय के लिए दिगम्बर-दीक्षा धारण कर ली। १२ वर्ष तक घोर तपस्या के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान प्राप्त होने के ६६ दिन तक भगवान् की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। उनके प्रथम समवसरण की रचना तब हुई, जब उन्हें गणधर के रूप में इन्द्रभूति गौतम की प्राप्ति हो गई। भगवान् महावीर ने देश-देशान्तर में अपनी दिव्यध्वनि से अनन्त प्राणियों का उपकार करते हुए, विहार के पावापुर नामक स्थान से ७२ वर्ष की अवस्था मे निर्वाण पद को प्राप्त किया।

जिस युग में भगवान् महावीर का जन्म हुआ, वह युग विश्व में धर्म और अध्यात्म की क्रान्ति का युग था। चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से, ग्रीस में सुकरात एवं प्लेटो, ईरान में जरथुस्त तथा भारतवर्ष में महावीर और बुद्ध सदृश विचारकों ने क्रान्ति का शंखनाद फूंका। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् में धर्म के नाम पर पाखण्ड और अनैतिकता का बोलबाला था। कुछ लोग जिह्वालोलुपता के वशीभूत हो, पशुबलि को धर्म का अनिवार्य अंग मानने लगे थे। निर्धन और दलितों को दास बनाया जा रहा था। नारी मात्र भोग की सामग्री मान ली गई थी। कुछ को छोड़कर, प्रायः राज्यसत्ता छोटे-छोटे उच्छृंखल राजाओं के आधीन थी तथा वे एक दूसरे के खून के प्यासे थे। भगवान् महावीर का हृदय इन परिस्थितियों को बदलने के लिए विचलित रहने लगा। वे प्राणियों के कष्ट को दूर करने का उपाय सोचने लगे। अन्ततः उन्होंने ३० वर्ष की वय में सम्पूर्ण राज्यवैभव को छोडकर जीवन की सार्थकता के अन्वेषण के लिए गृह-त्याग दिया।

भारतवर्ष की संस्कृति त्याग-प्रधान रही है। यहां संग्रह के नहीं, अपितु त्याग के गीत गाये जाते रहे हैं। जन-मानस में त्यागियों की पूज्यता महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने घर त्यागा, केवल १४ वर्ष के लिए और वह भी पिता की आज्ञा से, किन्तु वे

हमारे आदरणीय पूज्य बन गये। महात्मा बुद्ध ने भी घर त्यागा, किन्तु रात्रि के अन्धेरे में क्योकि कही पत्नी उन्हे देख न ले एवं पुत्र मोह न जाग जाये, फिर भी वे जन-मानस के पूज्य बन गये। पर वाह रे महावीर! तुमने जब घर छोडा तो हमेशा के लिए, किसी की आज्ञा से नहीं, अपितु आत्मकल्याण की कामना से, वह भी दिन के उजाले में, माता-पिता और पुरवासियो के समक्ष और फिर पीछे मुडकर देखा तक नहीं। अतएव वे हमारे आराध्य बन गये।

भगवान् महावीर की आराध्यता जन्म-जन्मान्तर की साधना का प्रतिफल है क्योंकि एक जन्म की साधना से तीर्थंकर पद की प्राप्ति सभव नहीं है। भगवान् महावीर जब आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के मरीचि नामक पुत्र के भव मे थे, तभी भगवान् की दिव्यध्वनि से यह पता चल गया था कि मरीचि भविष्य मे इसी अवसर्पिणी काल मे वर्द्धमान नामक अन्तिम तीर्थंकर होगा, परन्तु उन्हे अनेक मनुष्य, तिर्यच एवं नरकादि पर्यायो मे परिभ्रमण करना पडा। कभी वे अपने पथ से गिर गये तो कभी साधना-शिखर पर चढ गये। मरीचि के पूर्व पुरुरवा भील की पर्याय को तीर्थंकर महावीर बनने के क्रम का मंगल प्रभात कहा जा सकता है। इस पर्याय मे उसने मुनिराज से अहिंसाणुव्रत को ग्रहण किया, किन्तु विश्वास, विचार और आचार की सम्यक्ता न रहने से मरीचि के भव मे वह कुतप तपने लगा। जटिल की पर्याय में फिर पतन हो गया। आगे अनेक पर्यायों मे उतार-चढाव झेलते हुए वह सिंह की पर्याय में पुन. उत्थान की ओर अग्रसर हुआ, जब उसने अजितजय मुनिराज का सम्बोधन सुनकर पूर्वकृत कार्यो पर पश्चाताप किया और मांसाहार का त्याग कर सल्लेखना धारण की। देह त्यागकर वह सौधर्म स्वर्ग मे हरिध्वज नामक देव हुआ तथा दशवे भव में साधना का विकास करते-करते तीर्थंकर महावीर बना। इस प्रकार महावीर का जीवन क्रूर पशु से परमात्मा बनने की एक अनुकरणीय कहानी है।

भगवान् महावीर ने हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्म (कुशील) के साथ-साथ परिग्रह को भी पाप मानते हुए इन पांचो को यथाशक्ति त्याग का गृहस्थों

को तथा पूर्णतया त्याग का साधुओ को क्रमश पंचाणुव्रत और पच-महाव्रत के रूप में उपदेश दिया। हमारे समाज की विडम्बना यह है कि हम पूर्व के चार को तो पाप समझते है तथा उनसे घृणा भी करते है, पर परिग्रह को हमने पाप माना ही नही है। यही कारण है कि हम परिग्रह के दीवानेपन के कारण बाप तक को धोखा देने से नहीं चूकते हैं। इस परिग्रह के निमित्त हम हिंसा करने से नहीं हिचकते, झूठ बोलने मे नहीं चूकते एव चोरी को धनार्जन का माध्यम बनाते जा रहे है। परिग्रह में ममत्व कुशील सेवन का हेतु बनता ही है, यह किसी से भी छिपा नहीं है। फलत परिग्रह लिप्सा हमें पांचो पापों में फसा रही है। ऐसे समय में भगवान् महावीर का परिग्रह को सीमित करने का उपदेश सर्वथा प्रासंगिक तथा समाजोपकारी है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि प्राणी को सुख-दु:ख की प्राप्ति अपने कर्म के अनुसार ही होती है। जीव स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। किसी शक्ति को प्रसन्न करके अपने कर्मो के फल को भोगने से बचना सभव नही है।

भगवान् महावीर की दृष्टि मे जाति व्यवस्था जन्मना नही कर्मणा मान्य है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है-

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा।।

अर्थात् कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से शूद्र होता है। भगवान् महावीर के ये विचार वर्तमान में जातिगत वैमनस्य को दूर करने मे सर्वथा प्रभावी एव उपादेय हैं।

महावीर स्वामी ने कहा है कि एक गृहस्थ को व्यसनमुक्त जीवन जीना चाहिए। भले ही वह श्रावक के मूलगुणों का परिपालन कर सकता हो या नहीं, उसे मांस, मदिरा, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन, जुआ, चोरी और शिकार जैसे व्यसनो का त्यागी अवश्य होना चाहिए। व्यसनमुक्त समाज ही समृद्ध और समुन्नत हो सकता है।

तीर्थंकर महावीर ने उस समय स्त्रियों को धार्मिक आराधना के अधिकार की बात कही, जब स्त्रियों और शूद्रो को वेदाध्ययन *सर्वथा निषिद्ध था।* उन्होने अपने साधु-जीवन मे चन्दना से आहार ग्रहण कर नारियो को धर्माराधना की अधिकारिणी स्वीकार करने का सूत्रपात किया तथा चतुर्विध सघ में आर्यिका के रूप में नारियों को प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया। उन्होने घोषणा की कि स्त्रिया भी धर्माराधना द्वारा स्त्रीलिग छेदकर मुक्ति को प्राप्त कर सकती है।

भगवान् महादीर के अनुसार हठाग्रह के कारण हम सत्य को नहीं पहचान पाते हैं। हम जो देख और जान पाते हैं, उतना कह नही पाते है। वस्तु को देखने-जानने के अनेक पहलू हैं। कोई भी एक समय में एक पहलू भी ठीक से देख या जान नही पाता है, फिर कहने की तो बात ही अलग है। अहंकार के कारण हम अपनी बात को सही तथा दूसरे की बात को गलत कहते है। यह एकान्त दृष्टिकोण समीचीन नही है। हमे अपना चिन्तन अनेकान्तमय बनाना चाहिए। इससे दूसरो के दृष्टिकोण को सर्वथा गलत माने की अवधारणा दूर हो सकेगी।

आज महावीर का अनुयायी जैन समाज विविध उत्सवों मे उनके सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार की डुगडुगी बजाने मे लगा है। हमे आज आवश्यकता है आत्म निरीक्षण की कि क्यों हमारे समाज के ही कतिपय व्यक्ति घी में चरबी मिलाने मे पकडे जाते हैं? क्यों हम अहिंसा का मजाक उडाते हुए कत्लखानों के प्रेरक देखे जाते है? क्यो हमारे साधुओ मे भी अतिचार नहीं, अनाचार ने भी प्रवेश कर लिया है? क्यों पानी छानकर पीने वाले हम जैनी गरीबो के शोषण मे प्रवृत्त हैं? मेरी दृष्टि में इन प्रश्नो का सहज कारण यह है कि हमारी उत्सव प्रियता बढी है, हमने ज्ञान के कल्पवृक्ष विद्वानो को मुरझाने दिया है, सत्साहित्य के प्रति हमारी रुचि कम हुई है तथा यद्वा-तद्वा आकर्षक नामों वाला साहित्य हम छपाकर नई पीढी को गुमराह कर रहे है। पहले हमारा प्रत्येक मन्दिर वचनिका के माध्यम से स्वाध्याय-भवन भी था। अब यह समन्वय समाप्तप्राय है। हमारे चौका में फास्ट-फूड ने प्रवेश कर लिया है तथा जो शाकाहार

हमारी जीवन शैली का अंग था, वह मात्र अब प्रवचनो एव सम्मेलनो का विषय बन गया है। पहले हम साधु को उसके चारित्र के मापदण्ड मे मापते थे, अब आकर्षण, भाषणकौशल, मन्त्र-तन्त्र तथा धन एकत्र करने के सामर्थ्य से हम उन्हे बडा मानने लगे हैं।

मेरा विनम्र अनुरोध है, समाज के कर्णधारो से कि अप्रैल २००१ मे भगवान् महावीर की २६०० जन्म-जयन्ती के राष्ट्रीय स्तर के आयोजनो के समय महावीर स्मरण के इस पावन अवसर पर एक कार्ययोजना तैयार करे, जिससे समाज का बहुमुखी विकास हो, आपसी मन-मुटाव दूर हो। पहले हम आत्मशान्ति प्राप्त करे, समाज मे सद्भाव एव शान्ति बनाये तब विश्व शान्ति की बात करें तो यह हमारा सार्थक प्रयास होगा। अन्यथा हम पहले भी राष्ट्रीय स्तर पर उत्सव मना चुके है और आगे भी मनाते रहेगे पर स्थिति वही 'ढाक के तीन पात' जैसी रहेगी। हमे कदम-कदम पर यह याद रखने की आवश्कता है कि अन्यायोपात्त धन कभी भी धर्म का साधन नही बन सकता है और न्यायोपार्जित आजीविका का साधन स्वय गृहस्थ का धर्म है। यदि हम सच्चे भगवान् महवीर के अनुयायी है तो हम आज ही उनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने का सकल्प ले।

– जयकुमार जैन

सूचना

जनवरी २००० से "अनेकान्त" के सम्पादक का कार्यभार डॉ जयकुमार जैन, २६१/३, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर ने सम्हाला हुआ है। प्रकाशनार्थ लेख सीधे सम्पादक के पास भेजें। दूरभाष सम्पर्क ०१३१-६०३७३० है।

समीक्षार्थ ग्रन्थ की दो प्रतियॉ भेजना आवश्यक है। एक प्रति वीर सेवा मन्दिर ग्रन्थालय मे शोधार्थियों के लाभार्थ रखी जावेगी।

- सुभाष जैन

महासचिव-वीर सेवा मन्दिर

परिग्रह के दलदल में फंसा अपरिग्रही धर्म

— पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

इस समय जैन समाज विधानो के आयोजन मे आकण्ठ डूबी हुई है। जहॉ तक निगाह जाती है-विधान ही विधान और विधानो के लिए वर्तमान मे परमपूज्य गुरुओ के सान्निध्य मिलने की सूचनाओ से रग-बिरगे, मनोहारी एव आकर्षक पोस्टरो से मदिरो की दीवारे अटी पडी है। जैन समाज की वैभव की झाकी यदि देखनी हो, तो मदिर जी के सूचना पट्ट की ओर ही देखने की आवश्यकता है। स्वत ज्ञात हो जायेगा कि आज के श्रावक के पास धन और समय की कोई कमी नहीं है। विधान चाहे आठ दिन का हो या पन्द्रह दिन का अथवा इक्कीस दिन का। लोगों मे इन पाठों मे भाग लेकर पुण्योपार्जन प्राप्त करने की होड आसानी से देखी जा सकती है। लगे हाथ गुरु का आशीर्वाद भी मिलता है, जिससे ऐहिक आकाक्षाओं की पूर्ति की गारंटी का सुखद आश्वासन मिलता है। ऐसे ही एक पोस्टर पर निगाह पडी, जिसमे लिखा था कि इस विधान मे भाग लेने पर "सौभाग्य, जीवन मे सभी प्रकार के सकट-हरण, पापनाश, कर्मक्षय, शारीरिक पीडा विनाश, आरोग्य लाभ, धन-धान्य वृद्धि और भव्य वैभव प्रकट होकर परम्परा से मोक्षप्राप्ति की सीढी बन सकती है।

घर में प्रत्येक प्रकार की बाधाये, उपसर्ग दूर हो जाते है, अक्षय पुण्य की प्राप्ति व सभी सम्पदाये, मनोकामनाये पूरी हो जाती है।"

पोस्टर की उपर्युक्त पंक्तियाँ लुभावनी लगीं। लोभ आखिर किसे नहीं होता? सांसारिक मनुष्य तो ससार-भोगों के प्रति तीव्र-लालसा रखता ही है और उन लालसाओ की पूर्ति यदि गुरु-सान्निध्य और आठ, दस, पन्द्रह दिनो के पाठ में भाग लेने मात्र से हो जाये, तो भला कौन सुधी श्रावक चूकेगा? फिर, निरन्तर लाभ-हानि का लेखा-जोखा रखने वाला व्यापारी वर्ग भला कैसे चूक सकता है? चूकता तो बेचारा वह है, जो गॉठ का पूरा

नही होता और अपनी हीनता को लेकर सिर धुनता है। सिर धुनने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा भी तो नहीं होता और इस कारण एक ओर अपने भाग्य को कोसता है कि मेरा पुण्योदय कहॉ, जो ऐसे सर्वविघ्न विनाशक, कर्मक्षयकारी, पापनाशक विधानो में भाग ले सके तो दूसरी ओर अपने पुण्योदय के प्रसाद से अभिभूत प्रतिभागी श्रावक-गण की शान और बढा हुआ रुतबा उन्हें आत्म-मुग्ध करता है। गुरु-कृपा से कुछ राजनीतिक व्यक्तियो के परिचय का सुअवसर भी मिलता है, जो भविष्य में व्यापारिक दृष्टि से लाभकारी होता है। इस प्रकार बोनस की गारंटी भी मिल जाती है। आज-कल कोई भी धार्मिक आयोजन राजनीतिक महापुरुषों के सान्निध्य के बिना फीके-फीके से रहते है और उस आयोजन की चर्चा बडे ही बेमन और नीरस भाव से होती है। कदाचित् आयोजन कर्ताओ की लगन और मेहनत से प्रधानमंत्री, मुख्यमत्री, उद्योगमंत्री, वित्तमत्री आदि की सन्निधि मिल जाये तो आयोजन-कर्ता के प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। भले ही, राजनीतिक व्यक्ति का आचरण कैसा भी हो, इससे आयोजन और आयोजन-कर्ता को कुछ लेना-देना नहीं। राजनीतिक व्यक्ति के चारित्रिक पक्ष की ओर देखना न तो आयोजको को इष्ट होता है और न ही प्रेरक को, जबकि धर्मानुष्ठान मे चारित्र को सर्वोच्च वरीयता दी जानी चाहिए। चारित्रिक व्यक्ति द्वारा उद्घाटित आयोजन से कुछ चारित्र-धारण करने की प्रेरणा मिलने की संभावना तो रहती है, परन्तु इस पक्ष को सर्वथा गौण करते हुए समागत राजनीतिक व्यक्ति के साथ फोटो खिचवाने मे सभी आतुर देखे जाते है। बाद मे वे चित्र ड्राइंगरूम और व्यापारिक प्रतिष्ठानो को अलंकृत करते हैं। यहॉ भी प्रच्छन्न लाभ-हानि का लेखा-जोखा रखा जाता है। आगन्तुक व्यक्ति उन चित्रों को देखकर प्रभावित तो होता ही है साथ ही, कदाचित् कोई सरकारी अधिकारी निरीक्षण आदि के लिए आ जावे तो सहसा हाथ रखने में हिचकिचाएगा और सोचेगा कि अरे! इनके तो बडे-बडे लोगों से ताल्लुकात हैं, कहीं ऐसा न हो कि मुझे ही लेने के देने पड जाये।

इस प्रकार पाठ में प्रतिभागी और मंचस्थ होने का यह परोक्ष लाभ मिलता है तो अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ भी होते ही हैं, जिनका उल्लेख पोस्टर की उपर्युक्त शब्दावली से ध्वनित होता है। विचारणीय

यह है कि विधि-विधानों का शास्त्रीय पक्ष क्या है? यदि विधि-विधानो मात्र से ही सभी प्रकार के कष्टो का निवारण और कर्मक्षय सम्भव है, तब व्रत-संयम-तप आदि को निरर्थक मानकर छोड देना चाहिए क्योंकि नीति-वाक्य है कि **'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'-मन्दबुद्धि भी निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं करता।'** *कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव* को स्वकृत कर्मो के फलों को भोगना पडता है। संचित कर्मो के संवर-निर्जरा हेतु व्रत-संयम-तप आदि का आश्रय लेना आवश्यक है। ऐसे में यदि विधान ही हमारे सभी कर्मो के कर्मक्षय मे समर्थ है, तब इससे सरल उपाय भी कोई अन्य नहीं हो सकता। ऐसे में महाकवि बुधजन की ये पंक्तियां व्यर्थ ही हो जाती हैं-

पाप-पुण्य मिलि दोय पायन बेड़ी डारी।
तन कारागृह मांहि, मोहि दियो दु:ख भारी।।

उपर्युक्त पंक्तियों को जब उन्होंने रचा, तब गुरुओं का सान्निध्य आज जैसा नहीं था। अत· शास्त्रों के स्वाध्याय से ही उन्होने जाना होगा कि-

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह:।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त:, तपस्वी स प्रशस्यते।।

विषय आशा से तथा आरम्भ परिग्रह से रहित ज्ञान, ध्यान और तप में लीन साधु प्रशसनीय होता है, परन्तु मात्र जानने से भला क्या होता है। प्रत्यक्ष अनुभव सबसे अधिक मूल्यवान् होता है। सो, २०वीं शताब्दी के आरम्भ में परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी से मुनि परम्परा का पुनर्प्रवेश होने पर तत्कालीन श्रावकों ने स्वयं को अतिशय पुण्यशाली माना और जब मुनि परम्परा पल्लवित होकर बृहद् आकार रूप में परिणत हुई तो आज का श्रावक अपने पूर्वजों की अपेक्षा स्वयं को अतिशय पुण्यशाली माने तो आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब परमेष्ठी-स्वरूप साधु को यश-आशा, तीर्थ-निर्माण, बाह्य-क्रियाकाण्ड मे आकण्ठ निमग्न होता हुआ देखते हें। स्थिति यह है कि आज कई आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के पास दो एजेण्डे हैं। पहला है-श्रावको को जिस किसी प्रकार आकर्षित करना, उनके दु खों को दूर करने के लिए या तो

गण्डा-ताबीज प्रदान करना या विधानों या पंचकल्याणकों के भव्य आयोजन करने की प्रेरणा देना। इन सब कार्यो के पीछे दूसरा ही एजेण्डा रहता है-वह है अपने प्रायोजित-संकल्पित कार्यो के लिए अधिकतम धन-संग्रह करना।

दूसरे एजेण्डे के क्रियान्वयन के अनेक रूप हो सकते हैं, मसलन-कैलाश पर्वत, अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों की स्थापना, ढाई द्वीप की रचना, विदेह क्षेत्र, तीन लोक की स्थापना, रथ-प्रवर्तन आदि-आदि। चूँकि श्रद्धालु श्रावकों ने इनको सुना भर है, सो वह इन कार्यो को तन-मन-धन से सहायक होने का सुअवसर देखकर, अपनी बन्द थैलियों का मुँह उदारता के साथ खोलने मे अपना अहोभाग्य मानता है। भले ही, बाद में अपने को वह ठगा सा महसूस करे। इसकी प्रतिध्वनि यदा-कदा इस प्रकार सुनाई पडती है कि अरे! क्या बतायें। अमुक ने कहा तो मैं मना नहीं कर सका। वैसे तो अपने पास समय है नहीं, फिर यह अवसर मिला। उस पर अमुक आचार्य ने प्रेरणा की तो सोचा कि कुछ धर्म ही कर लें।

आज नब्बे प्रतिशत श्रावको के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति है। सभी महसूस करते हैं और एकान्त में चर्चा भी करते हैं कि क्या हो गया है हमारे साधुओं को। गृहस्थ से भी ज्यादा आकांक्षाओ और धन की तृष्णा को देखकर तो ऐसा लगता है कि इससे सुन्दर व्यापार और कोई नही हो सकता। वेष धारण करो, योजना बनाओ, श्रावकों को जोडो-तोडो। कार्य सिद्ध। कुल मिलाकर स्थिति यह हो गई है-

मुनि बनन ते तीन गुण, सब चिन्ता से छुटकार।
बहु यश औ धन मिले, लोग करें जयकार।।

जबकि हमारे परम्परित आचार्यो ने श्रावकों एवं श्रमण मुनि के लिए जो भी मानदण्ड स्थापित किए हैं, वे पूर्णत· सार्वकालिक हैं। आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, जिसके अन्तर्गत नि शंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना अगो को आवश्यक तत्त्व निरूपित किया है। आज ठीक उसके विपरीत श्रद्धान के वशीभूत कार्य निष्पन्न होते देखकर सन्ताप होता है।

बाह्य-आडम्बर, क्रिया-काण्ड, जिसका जैन-शासन मे कोई स्थान नही है, वह पूरी तरह प्रविष्ट हो चुका है। जैनेतर साधुओ की तरह ही आरम्भ-परिग्रह में सलिप्त दिगम्बर साधु भी प्रवृत्ति कर, मठाधीश जैसी प्रवृत्तियो का संवाहक बन रहा है। यदि यह कहा जाय कि आज साधु-संस्था वीतरागता की आड में परिग्रह के ही मकड-जाल मे उलझ गई है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। पिच्छि-कमण्डलु की मर्यादा से बधा श्रद्धालु श्रावक मौन होकर-उनके अभीष्ट कार्यो को सम्पन्न करने/कराने में दत्त-चित्त है। आदर्श स्वरूप साधु की इन प्रवृत्तियो को किस श्रेणी में रखे यह "विज्ञ श्रावको" की सहज चिन्ता है। **तिल-तुष मात्र परिग्रह भी निर्ग्रन्थता को मूल्यहीन बना देता है।** शास्त्रोक्त वचन भी है-"**बह्वारम्भ परिग्रहत्त्वं नारकस्यायुष:**"। क्या हमारे साधु इस आगम वाक्य से परिचित नही है? लोक मे कहा जाता है कि-जिस साधु के पास दो कौडी वह दो कौडी का और जिस गृहस्थ के पास कौडी नही, वह दो कौडी का।

वस्तुत. दिगम्बर जैन धर्म की मूलभूत शिक्षा ही अपरिग्रही वृत्ति है, त्याग प्रधान है, न कि त्यागियो के लिए ही त्याग का। गृहस्थ का त्याग यदि साधु के पास एकत्र हो जाए तो उस स्थिति मे, गृहस्थ ही अपरिग्रही ठहरेगा, साधु नही। साधु-सस्था के निर्वाह का उत्तरदायित्व श्रावको का है, इसमे कोई दो राय नहीं और धर्मभीरु श्रावक इस कर्तव्य को पूरी निष्ठा के साथ निर्वाह कर रहा है, परन्तु हमारे परमपूज्य साधुओं को भी विचार करना चाहिए कि क्या इन्ही यश-लिप्सा, धन-लिप्सा और विभिन्न योजनाओ को मूर्त्त रूप देने के लिए ही असिधारा-व्रत को अगीकार किया था? क्या ये ही निर्ग्रथ वीतराग मार्ग का पाथेय है? तप-सयम की क्या यही फलश्रुति है कि नित नये काल्पनिक तीर्थो का सृजन किया जाये? जब चाहे तब विधान-अनुष्ठान आदि के लिए लोगों को उत्प्रेरित किया जाये? हमे याद है कि पहिले जब कभी किसी श्रावक को उद्यापन या विधान करवाने की इच्छा होती थी, तब सामान्य सूचना-मात्र से लोगों मे उत्साह का संचार हो जाता था। उसके लिए समाज के प्रचुर धन को आज की तरह टेन्ट, गाजे-बाजे, शान-शौकत भरे दिखावे मे व्यर्थ नहीं बहाया जाता था। आजकल के प्रदर्शन भरे आयोजनों से किस प्रकार

वीतरागी एवं अपरिग्रही जिनधर्म की प्रभावना हो रही है? यह सर्वाधिक चिन्तनीय है।

अच्छा होता कि हमारे साधु परमेष्ठी उन प्राच्य सस्थाओ की स्थितिकरण मे प्रवृत्त होते, जहॉ से सैकडो विद्वान् तैयार होकर जिन-शासन की सेवा में सन्नद्ध हुए हैं। हमारे सुनने में अब तक नहीं आया कि अमुक आचार्य ने किसी संस्था को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए कोई ठोस-प्रेरणा की हो। पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से स्थापित अनेक संस्थायें काल-कवलित हो चुकी है या समाप्ति की ओर हैं। इन प्राच्य संस्थाओ पर ऐसे लोग काबिज हो गए है, जिन्हे न जिन-परम्परा से कुछ लेना-देना है और न ही उन संस्थाओ को चलाने की उनकी कोई दृढ इच्छा शक्ति है। हॉ, साधुओ की प्रेरणा से नई-नई संस्थाओ का सृजन अवश्य हो रहा है, वह भी लाभ-हानि की तर्ज पर।

इसी प्रकार नए-नए तीर्थो की परिकल्पनाओ और उन्हे मूर्त्त स्वरूप प्रदान करने मे हमारे साधुगण जिन अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों की प्रतिकृतियां निर्मित करवा रहे है, वे क्या अकृत्रिम स्वरूप बन पाते है? कदाचित् बन भी जाए, तो भी कहलायेगी तो कृत्रिम ही। फिर, ध्यान देने की बात यह भी है कि हमारे अनेक प्राचीन तीर्थ विवादो के घेरे मे है। शाश्वत तीर्थ श्री सम्मेद शिखर का विवाद चल रहा है। पावापुरी तीर्थ पर विवाद है। उन तीर्थक्षेत्रो की रक्षा और उसके समुन्नयन के प्रति किसी साधु की चिन्ता न देखकर दु ख होता है। कृत्रिम रूप से निर्मित होने वाले तीर्थो के प्रति अति-उत्साह और प्राचीन तीर्थो के प्रति उदासीनता कालान्तर मे उनके अस्तित्व को ही प्रश्नचिन्ह लगाती दिखती है। जीवन्त-तीर्थ हमारी परम्परा के पोषक है। यदि इन तीर्थों की रक्षा न हो सकी तो हम अपनी परम्परा की रक्षा में भी समर्थ नहीं हो सकेगे। इतना ही नहीं, ये वही तीर्थ है जहॉ से अनेकानेक तीर्थकरों और मुनियों ने आत्मलाभ प्राप्त किंया है। यदि इन जीवन्त तीर्थो के प्रति अब भी जागृति नहीं आती और तप-संयम से प्राप्त ऊर्जा को मात्र नए-नए तीर्थो की स्थापना में ही लगाते रहे तो कालान्तर मे नवीन स्थापित तीर्थो के प्रति भी कोई उत्सुकता न रहेगी और न प्राचीन तीर्थो की स्थिति। इस प्रकार जीवन्त तीर्थो के

अभाव मे मुनिमार्ग भी अन्धकार मे चला जायेगा। नव-तीर्थों के बजाय प्राचीन तीर्थों का बने रहना जहाँ धर्म-परम्परा के लिए आवश्यक है, वहीं साधु संस्था को भी जीवन्त रखने का अप्रतिम साधन है।

दिगम्बर जैन समाज और साधुओं की प्रवृत्तियो से शिक्षा ग्रहण करते हुए आत्मार्थी मुमुक्षुओं द्वारा विशाल स्तर पर श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ द्वारा मगलायतन नाम से सर्वोदय कल्प आयतन का शिलान्यास हुआ है। चर्चा है कि इससे विधि-विधानों, प्रतिष्ठाओ और अन्यान्य धार्मिक कार्यो के लिए तथा स्वाध्याय के लिए उपयुक्त साधन श्रावको को उपलब्ध होंगे। वैसे अब तक हमने पढा है कि लोक मे चार ही मगलायतन होते है-अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत जिनधर्म। उनके प्रतीक स्वरूप जिनालय, दिगम्बर मुद्राधारी साधु और परम्परित आचार्यो द्वारा रचित पर्याप्त आगम है। ऐसे मे, पृथक् रूप से मगलायतन की क्या जरूरत आन पडी? सम्भव है अपने प्रचार-प्रसार के निमित्त ही वे ऐसा केन्द्र बना रहे हो, जहॉ से वे अपनी स्वपोषित गतिविधियो को संचालित कर सके। ठीक भी है, जब सारा समाज और साधु इस कार्य को करने में कटिबद्ध हों तब भला मुमुक्षु ही क्यो पीछे रहे? अब तो मुमुक्षु भाइयों को वर्तमान दिगम्बर साधु भी पूज्य लगने लगे है। कल तक उन्हें कोई भी साधु पूज्य नही लगता था, अचानक इस हृदय परिवर्तन में कोई रहस्य भी हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। भविष्य ही बतायेगा कि वे समाज को किस दिशा मे उद्वेलित करेगे।

हमारा तो मानना है कि जब तक अनर्थकारी धन के प्रति लोगो में मूर्च्छा है, तब तक कभी धर्म के नाम पर, कभी विधान के नाम पर तो कभी नव-तीर्थो के नाम पर समाज का इसी प्रकार दोहन होता रहेगा और श्रद्धालु श्रावक मौन रहेगा क्योकि उसका मानना है-'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे'। अस्तु, यदि हम दिगम्बर जैन धर्म को जीवन्त रखना चाहते हैं तो हमे परिग्रह के दल-दल में फंसे अपरिग्रही धर्म के चिरमूल्यो को स्थापित करने में प्रवृत्ति करनी होगी।

- **वीर सेवा मंदिर**, दिल्ली

दिगम्बर जैन आर्ष परम्परा

– डॉ. रमेशचन्द जैन

दिगम्बर जैन समाज में अनेक वर्ग हैं, जो सभी अपने को आर्ष परम्परा से सम्बन्धित करते हैं, तथापि उनमे अनेक प्रकार के वैचारिक मतभेद हैं। एक ही परम्परा से सम्बन्ध होते हुए भी उनमे इस प्रकार के मतभेद होना किसी भी विचारवान् व्यक्ति को सोचने के लिए प्रेरित करता है। आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है तथा सम्यग्दर्शन के लक्षण मे सच्चे देव, शास्त्र और गुरुओं का तीन मूढता रहित, आठ अग सहित और मदरहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है। तीन मूढताओं मे देवमूढता, शास्त्रमूढता और गुरुमूढताओ का समावेश है। आज स्थिति कुछ ऐसी विषम हो गई है कि श्रावकजनो की तो बात ही क्या, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के तीन मूढता रहित श्रद्धान की बात कतिपय साधु और साध्वीजनो को उचित नही लगती। स्पष्ट रूप से हम वीतरागी देव के उपासक है। वीतरागता की कसौटी पर जो खरा नहीं उतारता, वह कोई भी देव हमारा पूज्य नही है। आज के कतिपय त्यागीजनों को इस बात का भय है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की बात यदि उन्होंने स्वीकार कर ली तो वे शासनदेव, जिनकी मूर्ति स्थापित करने तथा जिनकी प्रतिष्ठा करने का उपदेश वे भोले-भाले श्रावक-श्राविकाओं को देते है, केवल उनके मन की कल्पना में ही अवशिष्ट रह जायेगे। शासन-देवता स्पष्ट रूप से सरागी देव हैं उनकी उपासना को किसी भी स्थिति में समुचित नहीं कहा जा सकता, चाहे उसके लिए कितने ही शास्त्र प्रमाण क्यो न उपस्थित किए जायें। सामान्यतया लोग परम्परावाहक होते हैं, किसी समय जनता के अज्ञान से शासन देवताओ की पूजा चल पडी। सम्यग्दृष्टि श्रावक या साधु परम्परा को प्रधानता न देकर परीक्षा और तर्क की कसौटी पर किसी मान्यता को

कसता है, यदि युक्ति की कसौटी पर कोई बात खरी नहीं उतरती तो सम्यग्दृष्टि उसे नहीं मानता है। समन्तभद्र जैसे परीक्षा-प्रधानी, जिन्होंने आप्त की भी परीक्षा कर युक्ति शास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञ की ही मान्यता को स्वीकार किया, के अनुयायी तथा उनकी टीका प्रटीकाओं का प्रतिदिन स्वाध्याय करने वाले श्रावक-जन गुरु-परम्परा की दुहाई देकर यदि शासन देवताओं की पूजा का उपदेश दे, तो बडा आश्चर्य होता है। क्या उनके गुरु का स्थान आचार्य समन्तभद्र नहीं ले सकते?

जैनधर्म आत्मप्रधानी धर्म है। कर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का भी अभिप्राय आत्मा की सकलक स्थिति तथा उसकी अवस्थाओ को बतलाकर अकलंकपने की स्थिति को प्राप्त करने का उपदेश देना है। आज स्थिति यह हो गई है कि जहॉ एक पक्ष शुद्धात्मा की बात कहकर आत्मा की अशुद्ध स्थिति से छुटकारा पाने हेतु तप, संयम वगैरह की स्थिति और मर्यादा को स्वीकार नहीं करता, वहीं दूसरा पक्ष आत्मा की बात स्वीकार नहीं करता। एक स्थान पर मैं गया तो वहा के कुछ लोग बोले कि आप अच्छे आ गए, यहॉ की जनता, जिन पडित जी ने पिछले दिन प्रवचन किया था, से कुछ नाराज हो गई है। मैंने पूछा-उन्होंने अपने प्रवचन में कौन सी ऐसी बात कह दी, जिससे लोग नाराज हो गए। उत्तर में उन्होने कहा कि उन पण्डित जी ने पहले ही दिन, "हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतम राम" वाला पद्य सब लोगो के सामने पढ दिया। मैंने कहा कि आत्मा के ज्ञाता दृष्टा स्वभाव की जिसमे चर्चा की गई है, उसमे बुराई मानने की बात कहॉ से आ गई। इस पर उन्होने उत्तर दिया कि यहॉ की जनता ज्ञाता दृष्टापने की बात सुनते-सुनते ऊब गई है, अत ऐसी बात सुनना पसन्द नही करती। मुझे उनकी बात सुनकर आज की समाज की स्थिति पर तरस आ गया, जो वीतरागी परमात्मा की उपासक होते हुए भी, उसके ज्ञाता दृष्टा स्वभाव और उस जैसा बनने की बात सुनना पसन्द नही करती। दूसरी ओर 'वीतराग वाणी पत्रिका मे मुझे यह भी पढने को मिला कि एक गाव मे पूज्य दिगम्बर जैन मुनिराज के पहुॅचने पर वहॉ के तथाकथित आत्मार्थी बन्धुओ ने समाज के लोगो पर यह दबाव डाला कि उन मुनि महाराज को कोई आहार न दे, फल यह

हुआ कि उन मुनि महाराज को वहाँ से निराहार ही प्रस्थान करना पडा। इस प्रकार चारित्र और ज्ञान का रथ आज भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर जा रहा है। ज्ञान का उपासक चारित्रधारियों की ओर देखना पसन्द नहीं करता और चारित्र का पोषक आज ज्ञान की बात सुनना पसन्द नहीं करता है। वास्तविकता यह है कि ज्ञान और चारित्र का सुमेल आवश्यक है। शास्त्रकारों ने 'हतो ज्ञानं क्रियाहीनम्' की बात जहाँ की है, वहाँ 'बिन भाव क्रिया सब झूठी' भी कही है।

आज की साधारण जनता जिनवाणी के नाम पर जो कुछ भी लिखा गया है, उसे ही सच मान लेती है। भगवान् महावीर का निर्वाण हुए आज २५०० वर्ष से अधिक हो गए हैं। बीच के अन्तराल में जैनियों को जैनेतरों के (विशेषकर दक्षिण भारत में) कठोर प्रतिरोध का सामना करना पडा है। बहुसंख्यक लोगों से तालमेल स्थापित करने के लिए उसने अपनी आचार परम्परा में परिवर्तन भी किए हैं। आज का जैनों का बहुत सारा क्रियाकाण्ड बहुसंख्यक जैनेतर समाज की ही देन है, आत्मप्रधान जैनधर्म के साथ उसकी किसी प्रकार संगति नहीं है। आज उस क्रियाकाण्ड को हमारे कुछ साधुवर्ग ने इतना प्रश्रय दिया है कि आत्मा की बात कुछ फीकी पड गई है। आज का सेठ साधुजनों के समक्ष जाकर परिग्रह-पिशाच से छुटकारा पाने का उपाय न पूछकर उनके आशीर्वाद द्वारा अपनी लक्ष्मी की कई गुनी वृद्धि की कामना करता है। कुछ साधुजन भी उसे चोरी तथा ब्लैक मार्केटिंग न करने की सलाह न देकर मन्त्र तन्त्रादि देकर उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, ताकि वह आजीवन उनका भक्त बना रहे और उसकी ब्लैक की कमाई का कुछ सदुपयोग धार्मिक कार्यो में भी हो। कहाँ तो साधु के बालाग्र मात्र परिग्रह रखने का निषेध किया गया है और कहाँ साधुजनों का नाम लेकर अटूट सम्पदा एकत्रित करने की प्रवृत्ति व्याप्त हो गई है। ऐसी स्थिति में यदि साधु के प्रति कहीं कुछ छींटाकशी होती है, तो उसे साधु का दोष न मानकर परिग्रह-पिशाच का ही दोष समझना चाहिए और इस ओर प्रत्येक श्रावक और साधु का ध्यान जाना ही चाहिए।

आज का युग बदल रहा है। किसी जमाने मे मन्त्र-तन्त्रादि का प्रभाव बतलाकर जनता को अपने धर्म की ओर आकर्षित किया जाता था। आज की जनता में मन्त्र-तन्त्रादि के प्रति वैसा विश्वास नहीं रहा है, अत किसी धर्म के अनुयायी के दूसरों के प्रति किए गये सुकार्य ही लोगों को उस धर्म की ओर आकर्षित कर सकते हैं। ईसाई मिशनरी की सेवा भावना से ही उनके धर्म के अनुयायियो की संख्या में वृद्धि हुई है, वहाँ जैन धर्मावलम्बियों की सख्या दिनोंदिन कम हो रही है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' की उक्ति के अनुसार जब धार्मिक लोग ही नही रहेगे तो धर्म कहाँ रहेगा? समाज के कर्णधारो को समाज की गिरती हुई जनसंख्या की चिन्ता नही है। घटती हुई जनसख्या का कारण अपने ही धर्म के लोगो का धर्म से च्युत होना तथा नए धर्म के अनुयायियो के समावेश का अभाव होना ही है। सामाजिक दृष्टि से जब तक नए लोगो को समान स्थान नही मिलेगा, तब तक समाज की जनसख्या मे कोई वृद्धि होने की आशा नहीं है। जातिवाद की पनपती हुई स्थिति में एक ही धर्म के अनुयायियों मे ही जब समानता का बोध नही है तो वे दूसरो को समान कैसे समझ सकते हैं? कहाँ तो भगवान् महावीर का विशाल हृदय था कि अपनी सभा मे उन्होने पशु-पक्षियो को भी स्थान दिया और कहाँ हमारा हृदय है कि हम संसार की मानव-समाज को भी एक नहीं मानते। हमारा यह सब लिखने का तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग विशेष को चोट पहुँचाना नहीं है, अपितु हम चाहते है कि भगवान् महावीर के धर्म का लाभ सबको मिले और वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का उपासक मानने मे गौरव का अनुभव कर सकें।

मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि जिसकी महान् आचार्य समंन्तभद्र मे आस्था है, वह तीन मूढताओ का सेवन कर ही नहीं सकता। यदि करता है तो आचार्य समन्तभद्र के शास्त्रों का उसने मर्म नहीं जाना, यही समझना चाहिए। हमारे धर्म की कसौटी सम्यक्त्व है और सच्चा सम्यक्त्वी कभी सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरु के स्थान पर कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की आराधना नहीं कर सकता।

- अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर

अनर्थदण्डव्रत की प्रासंगिकता

– डॉ० सुरेशचन्द जैन

जैनाचार के परिपालक व्रती के दो भेद हैं-अगारी और अनगारी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का एकदेश पालन करने वाले अणुव्रती श्रावक को अगारी या गृहस्थ तथा पूर्ण रूप से पालन करने वाले महाव्रती साधु को अनगारी कहा जाता है। सामान्यत: अगार का अर्थ घर होता है परन्तु जैनाचार में यह परिग्रह का उपलक्षण है। फलत परिग्रह का पूरी तरह से त्याग न करने वाले को अगारी कहते हैं। अगारी का अर्थ हुआ गृहस्थ। परिग्रह का पूर्णतया त्याग करने वाला अनगारी कहलाता है। अनगारी का अर्थ है गृहत्यागी साधु या मुनि। यद्यपि अगारी के परिपूर्ण व्रत नहीं होते है, तथापि वह सामान्य गृहस्थो की अपेक्षा व्रतो का एकदेश पालन करता है, अत: उसे भी व्रती-श्रावक कहा गया है। वह यद्यपि जीवनपर्यन्त के लिए त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर पाता है, परन्तु संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग कर यथासभव स्थावर जीवों की हिंसा से भी बचता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के कारण ऐसा असत्य संभाषण नहीं करता है, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश आदि का कारण बन सकता हो। यह अदत्त परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है, स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को यथायोग्य जननी, भगिनी या पुत्री के समान समझता है तथा आवश्यकतानुसार धन्य-धान्यादि का परिमाण कर संग्रहवृत्ति को नहीं अपनाता है।

अणुव्रती श्रावक के पांचो अणुव्रतों के परिपालन में गुणकारी दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों की व्यवस्था है। अपनी

त्यागवृत्ति के अनुसार आजीवन दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के अतिरिक्त अन्य निमित्त से न जाना दिग्व्रत है। इस व्रत में स्वीकृत मर्यादा को घटाया तो जा सकता है, बढ़ाया नहीं जा सकता है। इसमें भी प्रयोजनानुसार घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, माह आदि का परिमाण करके उसके बाहर धर्मकार्य के अतिरिक्त अन्य निमित्त से न जाना देशव्रत कहा गया है। प्रयोजन के बिना होने वाले निरर्थक पापकार्यो के त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। अणुव्रती श्रावक इन तीनों गुणव्रतों के परिपालन में सावधान रहता है। ये तीनों व्रत अणुव्रतों के लिए गुणकारी होते हैं, अत. इन्हें गुणव्रत कहा जाता है।

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप -

आचार्य पूज्यपाद ने उपकार न होने पर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है, उसे अनर्थदण्ड कहा है[1] और उससे विरक्त होने का नाम अनर्थदण्डव्रत माना है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दिशाओं की मर्यादा के अन्दर-अन्दर निष्प्रयोजन पाप कारणो से विरक्त होने को अनर्थदण्डव्रत माना गया है।[2] चारित्रसार के अनुसार भी निष्प्रयोजन पापादान के हेतु को अनर्थदण्ड कहा गया है।[3] उसका त्याग अनर्थ दण्डव्रत कहलाता है। पण्डितप्रवर आशाधर ने कहा है कि अपने तथा अपने सम्बन्धियों के किसी काय आदि अर्थात् मन, वचन एव काय सम्बन्धी प्रयोजन के बिना पापोपदेश आदि के द्वारा प्राणियों को पीडा देना अनर्थदण्ड है और उसका त्याग अनर्थदण्डव्रत माना गया है।[4] अन्य श्रावकाचार विषयक चरणानुयोग के ग्रन्थो मे भी कुछ शब्दभेद के साथ अनर्थदण्डव्रत का लगभग यही स्वरूप कहा गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सिद्ध होता नहीं है, केवल पाप का बन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड

कहते है।[५] अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन पाप के त्याग का नाम अनर्थदण्डव्रत है।

संसारी प्राणी का सर्वथा निष्पाप या निरपराध हो पाना सभव नहीं है। अपने स्वार्थ, लोभ, लालसा आदि की पूर्ति के लिए अथवा अपने सन्तोष के लिए वह प्रतिक्षण पापपूर्ण कार्यो को करता रहता है। यद्यपि राजकीय कानूनों के अधीन वह इन कार्यो के कारण अपराधी नहीं माना जाता है, तथापि धार्मिक दृष्टि से वह कदाचार का दोषी है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से अणुव्रतों में गुणगत वृद्धि नहीं हो पाती है। अत. अणुव्रती श्रावक को उन्नति-पथ पर बढते रहने के लिए दिग्व्रत एवं देशव्रत के साथ अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत का विधान किया गया है।

अनर्थदण्ड के भेद -

अनर्थदण्डव्रत पॉच प्रकार का माना गया है, क्योंकि अनर्थदण्ड या निष्प्रयोजन पाप पॉच कारणों से होता है। कभी यह पाप आर्त्त एवं रौद्र ध्यान के कारण होता है, कभी पापपूर्ण कार्यो को करने के उपदेश के कारण होता है, कभी असावधानी वश आचरण के कारण होता है, कभी जीवहिंसा में कारण बनने वाली सामग्री को प्रदान करने से होता है तथा कभी यह पाप कामभोगवर्धक कथाओं आदि के सुनने से होता है। इसी आधार पर अनर्थदण्ड के पांच भेद माने गये हैं-पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु.श्रुति और प्रमादचर्या।[६] अनर्थदण्डों की संख्या में कहीं-कहीं अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त पांच अनर्थदण्डों में द्यूतक्रीडा को जोडकर छह अनर्थदण्डों का वर्णन किया है[७], जबकि श्वेताम्बर परम्पंरा दु:श्रुति को पृथक् अनर्थदण्ड के रूप में उल्लिखित न करके इसका अन्तर्भाव अपध्यान (आर्त्त-रौद्र ध्यान) में करती प्रतीत होती है।[८]

१. **पापोपदेश** : निष्प्रयोजन दूसरो को पाप का उपदेश देना अर्थात् ऐसे व्यापार आदि की सलाह देना जिससे प्राणियो को कष्ट पहुँचे अथवा युद्ध आदि के लिए प्रोत्साहन मिले पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। श्री समन्तभद्राचार्य के अनुसार तिर्यग्वणिज्या, क्लेश वणिज्या, हिंसा, आरंभ, ठगाई आदि की कथाओं के प्रसंग उठाने को पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड माना गया है।[९] गाय, भैंस आदि पशुओ को इस देश से ले जाकर अमुक देश में बेचने से अथवा अमुक देश से लाकर यहाँ बेचने से बहुत धन का लाभ होगा ऐसा उपदेश तिर्यग्वणिज्या पापोपदेश है। इसी प्रकार अमुक देश में दासी-दास आसानी से मिल जाते है। उन्हें वहाँ से खरीदकर अमुक देश में बेचने से पर्याप्त अर्थार्जन होगा ऐसा उपदेश देना क्लेशवणिज्या पापोपदेश कहलाता है। शिकारियो से यह कहना कि हिरण, सुअर या पक्षी आदि अमुक देश मे बहुत होते हैं, हिंसोपदेश या वधकोपदेश पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। खेती आदि करने वालो को यह बताना कि पृथिवी, जल, अग्नि, पवन एव वनस्पति आदि का सग्रह इन-इन उपायों से करना चाहिए, आरभकोपदेश नामक पापोपदेश अनर्थदण्ड है। चारित्रसार मे इन चार को चार प्रकार का अनर्थदण्ड कहा गया है।[१०] पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे कहा गया है कि बिना प्रयोजन के किसी पुरुष को आजीविका के साधन विद्या, वाणिज्य, लेखनकला, खेती, नौकरी और शिल्प आदि नाना प्रकार के कार्यो एवं उपायो का उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है तथा उसका त्याग पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है।[११] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि तथा स्त्री-पुरुष के समागम आदि का उपदेश पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है।[१२] सागार धर्मामृत में पण्डितप्रवर आशाधर ने उन समस्त वचनों को पापोपदेश अनर्थदण्ड कहा है, जो हिंसा, झूठ आदि तथा खेती, व्यापार आदि से सम्बन्ध रखते हो। उनका कहना है कि जो इन कार्यो से आजीविका चलाने वाले व्याध, ठग, चोर, कृषक, भील आदि है, उन्हे पापोपदेश नहीं देना चाहिए और न

ही गोष्ठी में इस प्रकार की चर्चा का प्रसंग लाना चाहिए। उन्होंने लिखा है-

पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम्।
तज्जीविन्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसज्जयेत्॥[१३]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि पशु-पक्षियों को कष्ट पहुँचाने वाला व्यापार, हिंसा, आरंभ, ठगविद्या आदि की चर्चा करना वह भी उन लोगों के बीच जो वही कार्य करते हों तो वह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। व्रती श्रावक को ऐसी चर्चा नहीं करना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो किसी भी प्रकार से आजीविका चलाने वाले को निष्प्रयोजन आजीविका विषयक कथन को पापोपदेश माना है। उनके अनुसार अनर्थदण्डव्रती को यह नही करना चाहिए।

२. **हिंसादान** : निष्प्रयोजन विषैली गैस, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणों का दान, जिनसे हिंसा हो सकती हो, हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, आयुध, सीग, सांकल आदि हिंसा के उपकरणों का दान हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।[१४] आचार्य पूज्यपाद ने भी इसी प्रकार विष, कांटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और डण्डा आदि हिंसा के उपकरणों के दान को हिंसादान अनर्थदण्ड कहा है।[१५] अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि-

असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसाया: परिहरेद् यत्नात्॥[१६]

अर्थात् असि, धेनु, विष, अग्नि, हल, करवाल, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों को दान देने का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

पण्डितप्रवर आशाधर जी का कहना है कि प्राणिवध के साधन विष, अस्त्र आदि हिंसादान को त्याग देना चाहिए तथा पारस्परिक व्यवहार के

अतिरिक्त पकाने के लिए अन्य व्यक्ति को अग्नि आदि भी नहीं देना चाहिए।[१७] गृहस्थी के लिए कभी-कभी आग, मूसल, ओखली आदि की अन्य गृहस्थी से लेने की आवश्यकता पडती है। एक गृहस्थ होने के कारण पं. आशाधर जी को इस व्यावहारिक कठिनाई का पता था। संभवत: इसी कारण उन्होंने गृहस्थी को परस्पर में अग्नि आदि के लेन-देन की छूट दी है, परन्तु जिनसे हमारा व्यवहार न हो तथा जो अजान हों ऐसे लोगों को आग वगैरह भी नहीं देना चाहिए। हो सकता है वह इस अग्नि आदि का प्रयोग गांव, गृह आदि के जलाने में कर दे। अनेक बार ऐसी घटनायें सुनी और देखी भी गई हैं।

यहॉ यह विशेष ज्ञातव्य है कि प्राय: सभी श्रावकाचारों में जहाँ हिंसा के उपकरणों को देना हिंसादान अनर्थदण्ड कहा गया है, वहां कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बिलाव आदि हिंसक पशुओं के पालन को **भी इस अनर्थदण्ड में सम्मिलित** किया गया है।[१८]

३. **अपध्यान** : आर्त्त, रौद्र खोटे ध्यान की अपध्यान संज्ञा है। पीडा या कष्ट के समय आर्त्तध्यान तथा बैरिघात आदि के विचार के समय रौद्र ध्यान होता है। ये दोनों ध्यान कभी नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंगवश इनका ध्यान हो जाये तो तत्काल दूर करने का प्रयास करना चाहिए। वास्तव में दूसरों का बुरा विचारना कि अमुक की हार हो जाये, अमुक को जेल हो जाये, अमुक व्यक्ति या उसका परिवारी जन मर जावे आदि रूप खोटा विचार अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है।

समन्तभद्राचार्य के अनुसार राग से अथवा द्वेष से अन्य की स्त्री आदि के नाश होने, कैद होने, कट जाने आदि के चिन्तन करने को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड माना गया है।[१९] सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है-'परेषां जयपराजयवधबन्धनांगच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्।' अर्थात् दूसरो की हार-जीत,

मारना, बांधना, अंग छेदना, धन का अपहरण करना आदि कार्यो को कैसे किया जावे-इस प्रकार मन से विचारना अपध्यान है।[२०] स्वामी कार्तिकेय ने परदोषों के ग्रहण, परसम्पत्ति की चाह, परस्त्री के समीक्षण तथा परकलह के दर्शन को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहा है।[२१] चारित्रसार में तो सीधे-सीधे आर्त्त एवं रौद्रध्यानों को अपध्यान कहा गया है।[२२] पण्डितप्रवर श्री आशाधर जी ने भी अपध्यान को आर्त्त एवं रौद्र ध्यानरूप स्वीकार किया है। अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि शिकार, जय-पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका फल केवल पापबन्ध है।[२३]

४. **दुःश्रुति** : दु.श्रुति को अशुभश्रुति नाम से भी उल्लिखित किया गया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ में अनर्थदण्ड के चार ही भेद किये हैं। उन्होंने दुःश्रुति को पृथक् भेद नहीं माना है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार आरम्भ, परिग्रह, दु.साहस, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, गर्व, कामवासना आदि से चित्त को क्लेशित करने वाले शास्त्रों के सुनने- पढने को दु.श्रुति नामक अनर्थदण्ड कहा है।[२४] आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है-'हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्याप्तिरशुभश्रुति ।' अर्थात् हिंसा और राग आदि को बढाने वाली दूषित कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षादेना अशुभश्रुति (दुःश्रुति) नाम का अनर्थदण्ड है।[२५] अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि राग-द्वेष आदि विभावों को बढाने वाली, अज्ञानभाव से परिपूर्ण दूषित कथाओं को सुनना, बनाना या सीखना दु.श्रुति अनर्थदण्ड है। इन्हें कभी भी नहीं करना चाहिए।[२६] कार्तिकेय स्वामी के अनुसार जिन ग्रन्थों में गन्दे मजाक, वशीकरण, काम-भोग आदि का वर्णन हो, उनको सुनना तथा परदोषों की चर्चा सुनना दु.श्रुति नामक अनर्थदण्ड है।[२७] पं आशाधर जी का कथन है कि जिन शास्त्रों में काम, हिंसा आदि का वर्णन है, उनके सुनने से हृदय राग-द्वेष से कलुषित हो जाता है, उनके सुनने को दु.श्रुति कहते हैं। उन्हें नहीं सुनना चाहिए।[२८]

कुछ शास्त्र ऐसे होते हैं, जिनमें मुख्य रूप से कामभोग विषयक या हिंसा, चोरी आदि का ही कथन होता है। इनके सुनने से काम विकार उत्पन्न होता है तथा हिंसा, चोरी आदि की बुरी आदतें पड जाती हैं। दु:श्रुति नामक अनर्थदण्डव्रत में ऐसे ग्रन्थों के पढने, सुनने, सुनाने आदि को छोडने की बात कही गई है।

५. **प्रमादचर्या** : प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का उल्लेख प्रमादाचरित नाम से भी किया गया है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार बिना प्रयोजन पृथिवी, जल, अग्नि और पवन के आरम्भ करने को, वनस्पति छेदने को, पर्यटन करने-कराने को प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहते हैं।[२९] आचार्य पूजयपाद ने लिखा है-'प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्।' अर्थात् बिना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पापकार्य प्रमादाचरित नामक अनर्थदण्ड हैं।[३०] आचार्य अमृतचन्द्र का भी यही विचार है। उन्होंने लिखा है कि निष्प्रयोजन भूमि को खोदना, वृक्षादि को उखाडना, दूब आदि हरी घास को रोंदना या खोदना, पानी सींचना, फल, फूल, पत्र आदि को तोडना आदि पापपूर्ण क्रियाओं को करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।[३१] पण्डित प्रवर आशाधर का कहना है कि-

प्रमादचर्यां विफलं क्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम्।
खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत्।।
तद्वच्च न सरेद् व्यर्थं न परं सारयेन्नहि।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान्।।[३२]

अर्थात् बिना प्रयोजन भूमि का खोदना, वायु को रोकना, अग्नि को बुझाना, पानी सींचना, वनस्पति का छेदन-भेदन आदि करना प्रमादचर्या है। उसे नहीं करना चाहिए। बिना प्रयोजन पृथिवी खोदने आदि की तरह बिना प्रयोजन हाथ-पैर आदि का हलन-चलन न स्वयं करें और

न दूसरे से करावें तथा प्राणियों का घात करने वाले कुत्ता-बिल्ली आदि जन्तुओ को न पाले।

यहॉ यह ध्यातव्य है कि जहॉ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बिल्ली आदि जन्तुओं के पालन को हिंसादान अनर्थदण्ड मे रखा गया है[33], वहॉ सागारधर्मामृत में इसे प्रमादचर्या माना गया है।

पर्यावरण-प्रदूषण आज विश्व की भीषणतम समस्या है। पृथ्वी की निरन्तर खुदाई, दूषित जल, अग्नि का अनियन्त्रित प्रयोग, दूषित वायु तथा रासायनिक खादो एवं कीटनाशकों से दूषित अन्न एवं वनस्पतियों के प्रयोग ने आज पर्यावरण को अत्यन्त प्रदूषित कर दिया। यदि विश्व के अधिकांश मानव मात्र प्रमादचर्या न करें, निष्प्रयोजन भूमि को न खोदें, आवश्यकता से अधिक जलस्रोतों का उपयोग न करें तथा जलाशयों एवं नदियों के पानी को कारखानों के विषैले दूषित जल से बचावें, कोयला, मिट्टी का तेल, डीजल, पेट्रोल, लकडी जलाने आदि को सीमित कर लें, विभिन्न गैसों से वायु प्रदूषित न होने दें तथा व्यर्थ पेड-पौधों को न काटे तो पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या से बचा जा सकता है।

उक्त पॉच अनर्थदण्डों के अतिरिक्त अमृतचन्द्राचार्य ने जुआ खेलने को भी अनर्थदण्ड माना है। उनका कहना है कि जुआ सब अनर्थो में प्रथम है, सन्तोष का नाशक है और मायाचार का घर है, चोरी और असत्य का स्थान है। अत. इसे दूर से ही त्याग देना चाहिए।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार -

अतिचार और अतिक्रम पर्यायवाची शब्द हैं। अतिचार का अभिप्राय है ग्रहण किये गये नियम में दोष का लगना या नियम का किसी कारणवश अतिक्रमण हो जाना। सामान्यत. अतिचार में अज्ञातभाव से

हुए छोटे-छोटे दोष आते हैं तथा इनका आचार्य के पास आलोचना करने पर अथवा स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेने पर शोधन भी हो जाता है। कभी-कभी कहीं-कहीं बड़े दोषों को भी आचार्यो ने अतिचारों में दिखाया है।

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार हैं[३५]-१. **कन्दर्प**-हास्ययुक्त अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, २. **कौत्कुच्य**-शारीरिक कुचेष्टापूर्वक अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, ३. **मौखर्य**-निष्प्रयोजन बोलते रहना या बकवाद करना, ४ **असमीक्ष्याधिकरण**-प्रयोजन के बिना कोई न कोई तोड़-फोड़ करते रहना या काव्यादि का चिन्तन करते रहना तथा ५. **उपभोगपरिभोगानर्थक्य**-प्रयोजन के न होने पर भी भोग-परिभोग की सामग्री एकत्र करना।

पं. आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ 'ज्ञानदीपिका' पञ्जिका में पाँच अतिचारों की व्याख्या की है, जिसका भाव इस प्रकार है। जो वचन काम-विकार को उत्पन्न करने वाले होते हैं या जिनमें उसी की प्रधानता होती है, उन वचनों के प्रयोग को कन्दर्प कहते हैं। कन्दर्प का अर्थ है-राग की तीव्रता से हंसीयुक्त असभ्य वचन बोलना। भौंह, ऑख, ओष्ठ, नाक, हाथ, पैर और मुख के विकारों के द्वारा कुचेष्टा के भाव को कौत्कुच्य कहते हैं। अर्थात् हास एवं भांडपने के साथ शारीरिक कुचेष्टा कौत्कुच्य है। ये दोनों प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

बिना विचारे यद्वा-तद्वा बोलने वाले को मुखर कहते हैं और मुखर का भाव मौखर्य है। अर्थात् ढिठाईपूर्वक असत्य एवं असंबद्ध बकवाद करना मौखर्य है। यह पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत का अतिचार है। क्योंकि मौखर्य से ही पापोपदेश होना संभव हो पाता है।

आवश्यकता का विचार किये बिना अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार है। जैसे चटाई बनाने वाले से अनेक

चटाईयॉ बनवा लेना, बहुत सी लकड़ियॉ कटवा लेना या बहुत सी ईटें पकवा लेना तथा फिर कम खरीदना आदि और इसी प्रकार हिंसा के उपकरण ओखली-मूसल, हल-फाली, गाड़ी-जुआ, धनुष-बाण आदि को साथ-साथ रखना, जिससे मांगने पर मना करना संभव हो। यह हिंसादान अनर्थदण्डव्रत का अतिचार है।

सेवन करने योग्य भोगोपभोग की सामग्री को जरूरत से अधिक संग्रह करना उपभोगपरिभागानर्थक्य नामक अतिचार है। यदि स्नानादि के समय तैल साबुन आदि का संग्रह अधिक होगा तो जलाशय में स्नानार्थ आने वाले अन्य लोग भी उनका प्रयोग करके जीवघात करेंगे। यह भी प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत का अतिचार है। इस अतिचार को पं आशाधर ने सेव्यार्थाधिकता नाम दिया है।[३६]

ऐसा प्रतीत होता है कि अपध्यान एव दु.श्रुति नामक अनर्थ दण्डव्रतों का कोई अतिचार इन पांच अतिचारों में सम्मिलित नहीं है। इस पर विचार अपेक्षित है।

अनर्थदण्डव्रत का महत्त्व और प्रयोजन -

अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है जो व्यक्ति अनर्थदण्डों को जानकर उनका त्याग कर देता है, वह निर्दोष अहिंसा व्रत का पालन करता है।[३७] तत्त्वार्थराजवर्तिक में कहा गया है कि पूर्वकथित दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत में व्रती ने जो मर्यादा ली है, उसमें भी वह निरर्थक गमनादि तथा विषय सेवनादि न करें, इसी कारण बीच में अनर्थदण्डव्रत का ग्रहण किया गया है।[३८]

यत. अनर्थदण्डव्रत श्रावक की निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग कराकर व्रतों को निर्दोष पालने में सहकारी है तथा यह व्रतों में गुणात्मक

वृद्धि करता है। अत अनर्थदण्ड के त्याग रूप इस गुणव्रत का श्रावक के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। अनर्थदण्डव्रत के पालन से व्यर्थ के पापबन्ध से बचा जा सकता है।

संदर्भ

१ सर्वार्थसिद्धि, ७/२१।

२ आभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्य सपापयोगेभ्य ।
विरमणमनर्थदण्डव्रत विदुर्व्रतधराग्रण्य ।। रत्नकरण्ड श्रा , ७४।

३ प्रयोजन विना पापोदानहेत्वनर्थदण्ड । चारित्रसार, १६/४

४ पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम्।
अनर्थ दण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रत मतम्।। सागार धर्मामृत, ५/६

५ कज्ज किं पि ण साहदि णिच्च पाव करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवदि अणत्थो ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३४३

६ पापोपदेशहिसादानापध्यानदु श्रुती पञ्च।
प्राहु प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधरा ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७५

७ द्रष्टव्य-पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, १४१-१४६

८ द्रष्टव्य-यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ मे 'आजनो जैन अने गृहस्थ धर्म' लेख, लेखक-पूनमचंद नागरदास दोशी एव द्रष्टव्य योगशास्त्र-हेमचन्द्राचार्य, ३/७३-७४

९ तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारंभलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्य पाप उपदेश.।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७६

१० चारित्रसार, १६/४

११ विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविना पुंसाम्।
पापोपदेशदान कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्।। पुरुषार्थसि , १४२

१२ जो उवएसो दिज्जदि किसि पसुपालणवणिज्जपमुहेसु।
पुरुमित्थीमजोए अणत्थदण्डो हवे विदिओ।। कार्तिकेयानु. ३४५

१३ सागारधर्मामृत, ५/७

१४ परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंखलादीनाम्।
वधहेतूना दानं हिसादान ब्रुवन्ति बुधा।। रत्नकरण्डश्रा. ७७

१५ सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

१६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४४

१७ हिसादान विषास्त्रादिहिसांगस्पर्शनं त्यजेत्।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत्।। सागारधर्मामृत, ५/८

१८ मज्जारपहुदिधरणआउहलोहादिविक्कण ज च।
लक्खाखलादिगहण अणत्थदडो हवे तुरिओ।। कार्तिकेयानु. ३४७

१९ वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे।
आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशद।। रत्नकरण्डश्रा. ७८

२० सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

२१ परदोसाण वि गहण परलच्छीण समीहण ज च।
परइत्थी अवलोओ परकलहालोयण पढम।। कार्तिकेयानु. ३४४

२२ उभयमप्येतदपध्यानम्। चारित्रसार. १७१/३

२३ पापर्धिजयपराजय सगरपरदारगमनचौर्याद्या।
न कदाचनापि चिन्त्या पापफल काल ह्यपध्याने।। पुरुषार्थ सि. १४१

२४ आरभसगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै।
चेत कलुषयता श्रुतिरवधीना दु:श्रुतिर्भवति।। रत्नक. ७९

२५ सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

२६ रागादिवर्धनाना दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि।। पुरुषार्थसि. १४५

२७ ज सवण सत्थाण भडणवासियरणकामसत्थाण।
परदोमाणं च तहा अणत्थदडो हवे चरिमो।। कार्तिकेयानु, ३४८

२८ चित्तकालुष्यकृत्कामहिसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्।
न दु श्रुति चान्वियात्।। सागारधर्मा, ५/९

२९ क्षितिसलिलदहन पवनारभ विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते।। रत्नकरण्डश्रा, ८०

३० सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

३१ भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारण न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च।। पुरुषार्थसि, १४३

३२ सागारधर्मामृत, ५/१०-११

३३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३४७

३४ सर्वानर्थप्रथम मथनं शौचस्य सद्म मायाया।
दूरात्परिहरणीय चौर्यासत्यास्पद द्यूतम्।। पुरुषार्थसि, १४६

३५ तत्त्वार्थसूत्र, ७/३२

३६ मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तदत्ययान्।
असमीक्ष्याधिकरण सेव्यार्थाधिकतामपि।। सागारधर्मा, ५/१२
तथा द्रष्टव्य इसकी ज्ञानदीपिका नामक स्वोपज्ञ सस्कृत पञ्जिका।

३७ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४७

३८ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/२१ (अनर्थक चंक्रमणादि विषयोपसेवनं च निरर्थकं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थ मध्येऽनर्थदण्डवचनं क्रियते।)

- सम्पादक 'जैन प्रचारक'
जैन बालाश्रम, दरियागंज, नई दिल्ली

लोक का स्वरूप, भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में

– डॉ. कपूरचन्द जैन

आज जब ग्लोबलाइजेशन, भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण की चर्चायें सर्वत्र चल रही हैं, तब यह जानना आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य हो जाता है कि जिसे हम भूमण्डल, विश्व या ब्रह्माण्ड कह रहे हैं, वह केवल इतना ही है, जितना हम देख रहे हैं या जान रहे हैं और जिसे भूमण्डल विश्व या ब्रह्माण्ड मानकर भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण की बात रह रहे हैं? या इसके आगे भी कोई भूमण्डल, विश्व या ब्रह्माण्ड है?

क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा इस भूमण्डल विश्व या ब्रह्माण्ड का ज्ञान सम्भव है? क्या इस दृश्यमान भूमण्डल के आगे भी कोई भूमण्डल है? क्या इस भूमण्डल के नीचे या ऊपर भी कुछ है? आदि वे प्रश्न हैं जिनका समाधान हमें खोजना है।

जैन दर्शन में जिसे 'लोक' शब्द से अभिहित किया गया है आधुनिक विज्ञान या वैदिकादि परम्परायें उसे ब्रह्माण्ड कहती हैं। पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र विमान, पर्वत, द्वीप, समुद्र, नदियाँ, देश जनपद आदि सभी 'लोक' के विषय हैं। प्रत्यक्ष होने से पृथ्वी के एक भाग के सम्बन्ध मे तो प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाते हैं। किन्तु स्वर्ग, नरक, सूर्य, चन्द्र आदि के सम्बन्ध में आगम या अनुमान प्रमाण ही मुख्य है। आगम में भी तीर्थकरों, महापुरुषों या योगियों द्वारा साक्षात्कार ही मुख्य है। यद्यपि आज के विज्ञान ने अपनी गवेषणा से अनेक भौगोलिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया हो पर वह अगुष्ठ मात्र ही है। वस्तुत: तो लोक शाश्वत है, वह जैसा है वैसा ही हो, उसमें परिवर्तन सम्भव नही, हम उसे नहीं जान पा रहे यह हमारे ज्ञान की न्यूनता है।

लोक के स्वरूप पर सभी धर्मो ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। श्रमण और वैदिक दानों परम्पराओ ने इस पर विस्तृत गवेषणा की है। श्रमण परम्परा की जैन और बौद्ध दोनो धाराओं में पर्याप्त साहित्य इस सम्बन्ध मे मिलता है। जैन परम्परा में प्रथमानुयोग[1] (पौराणिक या कथात्मक साहित्य) मे इसकी चर्चा आई है। साथ ही करणानुयोग[2] के ग्रन्थ तो विस्तृत रूप मे लोकस्वरूप की चर्चा के लिए लिखे गये है। 'त्रिलोकसार', 'तिलोयपण्णत्ती', जम्बूद्वीप पण्णत्ती' आदि ग्रन्थ तो नामानुरूप लोक-स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही लिखे गये हैं।

आकाश के जितने भाग मे जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्य देखे जाते है उसे लोक कहते हैं। उसके चारों तरफ जो अनन्त आकाश है उसे अलोक कहते है। इस प्रकार सृष्टि लोकाकाश और अलोकाकाश इन दो रूपो मे बट जाती है। राजवार्तिक के अनुसार जहॉ पुण्य व पाप का फल देखा जाय वह लोक है।[3]

जैन दर्शन के अनुसार प्रतीक रूप में लोक का आकार दोनो पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खडे हुए पुरुष के समान है। यह घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयों से घिरा है।[4] इसके कारण यह तीन रस्सियो से घिरे हुए छीके के समान प्रतीत होता है। अलोकाकाश के बीच मे लोकाकाश की स्थिति के सन्दर्भ मे शका नहीं करनी चाहिए क्योंकि आज के उपग्रह जिस प्रकार वायु के द्वारा आकाश मे स्थिर हैं, उसी प्रकार लोक भी वातवलयों के सहारे स्थित है।

लोक के तीन विभाग हैं। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोक में नरक, निगोद आदि हैं। मध्यलोक में यह पृथ्वी है और ऊर्ध्वलोक मे स्वर्ग अनुत्तर, अनुदिश, सिद्धशिला आदि हैं।

लोक की मोटाई सर्वत्र सात राजू है। इसका विस्तार लोक के नीचे सात राजू मध्यलोक में एक राजू ब्रह्म स्वर्ग पर पांच राजू और लोक के अन्त में एक राजू है। सम्पूर्ण लोक की ऊॅचाई चौदह राजू है।[5]

अधोलोक मे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातम प्रभा ये सात पृथिवियाँ एक राजू के अन्तराल से हैं।[1]

मध्यलोक में चित्रा पृथ्वी के ऊपर एक-एक को चारों ओर से घेरे हुए द्वीप व समुद्र स्थित हैं। सबसे बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के चारों ओर जम्बूद्वीप है। उसके आगे लवण सागर फिर धातकी खण्ड फिर कालोदधि सागर, फिर पुष्करवर द्वीप एक दूसरे को घेरे हुए स्थित हैं। इस प्रकार असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं जम्बूद्वीप थाली के आकार का तथा शेष द्वीप सागर चूड़ी के आकार के हैं। आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। पुष्करवर द्वीप के बीचोबीच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे इस द्वीप के दो भाग हो जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्यों की गति है।[2] अत जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और आधा पुष्करवर द्वीप ये मिलकर अढाई द्वीप कहलाते है।

लगभग इसी प्रकार लोक के आकार की कल्पना वैदिक सस्कृति में भी की गई है। श्रीमद्भागवत के अनुसार विष्णु ने ब्रह्माण्ड नामक शरीर की रचना की। वह ब्रह्माण्ड हजारो वर्षो तक जल में पडा रहा। विष्णु ने उसे चैतन्य किया तब उससे हजारों चरण, भुजा, नेत्र, मस्तक वाला विराट पुरुष निकला[3]। विराट पुरुष के विभिन्न अगों मे समस्त लोकों की कल्पना की गई है। उसके कमर के नीचे के अगो मे सात पाताल की और पेडू से ऊपर के अंगो में स्वर्गो की कल्पना की जाती है[4]। उसके पैरों से लेकर कटि पर्यन्त सातो पाताल तथा भूलोक की कल्पना की गई है। नाभि में भुवर्लोक की, हृदय में स्वर्गलोक की, वक्षस्थल में महलोक की, गले मे जनलोक की, स्तनो में तपोलोक की और मस्तक में सत्यलोक है, जो ब्रह्मा का नित्य निवास है[5]।

इस प्रकार दोनों मे काफी समानता है। वैदिक लोक के सात पाताल, सात नरक है तथा सात स्वर्ग ही जैनाभिमत स्वर्ग और अनुत्तर, अनुदिश आदि हैं। जैनाभिमत सिद्धशिला सत्यलोक है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार[११] लोक के अधोभाग में १६,००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायुमण्डल है। इसके ऊपर ११,२०,००० योजन जलमण्डल, जलमण्डल में ३,२०,००० योजन भूमण्डल है जिसके बीच में मेरु पर्वत है। आगे चारों ओर ८०,००० योजन समुद्र है। आगे ४०,००० योजन युगन्धर पर्वत है। आगे भी इसी प्रकार समुद्र व पर्वत हैं जो आधे विस्तार वाले हैं इनके नाम हैं-ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निमिंधर। अन्त में लोहमय चक्रवाल पर्वत है। निमिन्धर और चक्रवाल पर्वतों के मध्य जो समुद्र है, उसमें मेरु की पूर्व दिशा में अर्धचन्द्राकार पूर्व विदेह दक्षिण में शकटाकार जम्बूद्वीप, पश्चिम में मण्डलाकार अवर गोदानीय द्वीप तथा उत्तर में समचतुष्कोण उत्तर कुरु है। इन चारों के पार्श्व में दो-दो अन्तर्द्वीप हैं। इनमें जम्बूद्वीप के पास वाले चमर द्वीप मे राक्षसों का और शेष में मनुष्यों का निवास है। भूमण्डल के ऊपर ज्योतिष्क लोक और उसके ऊपर स्वर्गलोक है।

भागवत के अनुसार मनु के पुत्र प्रियव्रत ने जब देखा कि सुमेरु पर्वत के जिस ओर सूर्य जाता है उधर प्रकाश रहता है बाकी जगह में अंधेरा। अत: सर्वत्र प्रकाश करने की इच्छा से उन्होने ज्योतिर्मय रथ पर चढकर, सुमेरु की सात परिक्रमाये कर डाली। उनके रथ के पहियों से जो लीकें बनीं वे सात समुद्र बन गये।[१२] अत पृथ्वी में सात द्वीप वन गये। द्वीपों के नाम हैं-जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर। पुष्कर द्वीप के बीच में मानुषोत्तर पर्वत है, यहीं तक मनुष्यों की गति है।[१३] आगे देवता रहते हे ये सभी द्वीप परिमाण में पहले की अपेक्षा दुगुने-दुगुने हैं।[१४] जैन परम्परा के अनुसार भी ये सभी द्वीप-समुद्र पहले की अपेक्षा दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं।[१५]

जम्बूद्वीप -

जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है। इसमें जम्बूवृक्ष होने से इनका नाम जम्बूद्वीप पडा। इसके बीच में सुमेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ १,००,००० योजन बताया गया है।[१६] इसमें कुल सात वर्ष या क्षेत्र हैं, जिनके नाम हैं-भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत।[१७]

इन क्षेत्रों को बांटने वाले पूर्व से पश्चिम तक फैले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह वर्षधर या कुलाचल पर्वत हैं।[१८] ये क्रमशः सोना, चादी, तपाया सोना, वैडूर्य, चांदी और सोने के रंग वाले हैं।[१९] ये ऊपर और मूल में समान विस्तार वाले हैं।[२०] इन पर्वतों पर क्रमश· पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाब हैं।[२१] जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रो में बहने वाली १४ नदियॉ निम्न हैं-गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा।[२२] इनमें भी पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र में तथा दूसरी-दूसरी पश्चिम समुद्र में गिरती है।[२३] गगा-सिन्धु आदि नदियॉ १४ हजार परिवार वाली हैं अर्थात् ये इनकी सहायक नदियॉ हैं।[२४]

भरत क्षेत्र -

जैसा कि ऊपर कह आये हैं थाली के आकार के जम्बूद्वीप में छह कुलाचलो के कारण सात क्षेत्र हो गये हैं। हिमवान् पर्वत के कारण बंटा हुआ पहला क्षेत्र भरत है, यह सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में है। पहला क्षेत्र होने के कारण यह अर्धचन्द्राकार है। इसके दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में लवण सागर है। उत्तर में, हिमवान् पर्वत है जो इसे हैमवत् क्षेत्र से पृथक् करता है। हिमवान् पर्वत के ऊपर जो पद्मह्रद है उससे गंगा और सिन्धु दो नदियॉ निकलकर भरतक्षेत्र में आयीं हैं। गंगा पूर्व की ओर और सिन्धु पश्चिम की ओर है। इस क्षेत्र के बीच मैं विजयार्ध नाम का पर्वत है, जो पूर्व से पश्चिम तक फैला है। इस प्रकार इस क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। इन खण्डों में पॉच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्यखण्ड है। जिसमें आर्य लोग निवास करते हैं। भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन का छह बटे उन्तीस है।[२५]

आज हम जो पृथ्वी का भाग देख रहे हैं वह सब इसी आर्यखण्ड में समाहित है। इसी आर्यखण्ड में अयोध्या नाम की शाश्वत नगरी है। जिसका क्षेत्रफल १२x९ योजन है।[२६] विजयार्ध के उत्तर वाले तीन खण्डों में मध्य

वाले म्लेच्छ खण्ड के बीचोबीच वृषभगिरि नाम का गोल पर्वत है, जिस पर दिग्विजय के पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है।[२७]

विष्णु-पुराण के अनुसार भी जम्बूद्वीप मे सुमेरु के दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट और निषध तथा उत्तर में नील श्वेत और शृंगी ये छह पर्वत हैं जो इसको भारतवर्ष, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय और उत्तरपूर्व इन सात क्षेत्रों में विभक्त कर देते हैं।

इस प्रकार जैन तथा वैदिक परम्परा के अनुसार भरतक्षेत्र या भारतवर्ष पहला क्षेत्र है। यहाँ भरतक्षेत्र के नामकरण पर थोडा विचार किया जाना असमीचीन नहीं होगा। जैन दर्शन के अनुसार लोक अनादि है। द्वीप क्षेत्र आदि भी अनादि हैं। अत. भरतक्षेत्र के नामकरण का प्रश्न नहीं उठता। भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड के भारतवर्ष का नाम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर पडा, ऐसा उल्लेख समग्र जैन साहित्य में मिलता है।

आधुनिक इतिहास में यही पढाया जाता है कि दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पडा, परन्तु वैदिक साहित्य के ही अनेक पुराणो के आधार पर यह स्पष्ट है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पडा। ध्यातव्य है कि जैन परम्परा का भरतक्षेत्र ही वैदिक परम्परा का भारतवर्ष है।

भागवत के अनुसार पहले भरतखण्ड या भारतवर्ष का नाम 'नाभिखण्ड' या 'अंजनाभ' था। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है-स्वायंभुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि. नाभि के ऋषभ और ऋषभ के सौ पुत्र हुए जिनमे भरत श्रेष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे उन्हीं के नाम पर यह देश अंजनाभवर्ष कहलाता था'।[२८] एक बार इन्द्र ने जब वर्षा नहीं की तो ऋषभदेव ने अपने वर्ष अजनाभ में अपनी योगमाया से खूब जल बरसाया।[२९] यही अंजनाभ वर्ष आगे चलकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहाया।[३०] लिंग पुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, नारद पुराण, शिवकूर्म, वाराह, मत्स्य आदि पुराणों के अनुसार भी प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र, आग्नीध्र के

नाभि, नाभि के ऋषभ, ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पडा सिद्ध होता है। लिगपुराण का कथन है-

'नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि हिमांधकोऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वाजनयत पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः।।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः।।
सोऽमिषिच्याध ऋषभो भरतं पुत्र वत्सलः।

x x x

हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।

-लिंगपुराण, भारतवर्ष वर्णन, पृ ३१२-१३

इस प्रकार वैदिक और बौद्धादि परम्पराये भी जैन सम्मत लोक स्वरूप का समर्थन करती है। वस्तुत लोक तो शाश्वत है। उसके स्वरूप में परिवर्तन सम्भव नहीं।

सन्दर्भ

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार, वीर सेवा मदिर ट्रस्ट, १९७२ श्लोक २/२

२ वही २/३

३ राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, ५/१२/१०-१३

४ त्रिलोकसार

५ वही

६ वही, तत्त्वार्थसूत्र, वाराणसी अध्याय-३, सूत्र-१

७ 'प्राड्मानुषोत्तरान्मनुष्या'-तत्त्वार्थसूत्र, ३/३५

८. श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सवत् २०१८, २/५/२१-३५

९ वही २/५/३६

१० वही २/५/३८-३९

११ अभिधर्मकोश के आधार पर डॉ हीरालाल जैन द्वारा 'तिलोय पण्णत्ती' प्रस्तावना पृष्ठ ८७ पर कथित भावार्थ। देखे- 'जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश' भाग-३ पृष्ठ ४४९

१२ श्रीमद्भागवत ५/१/३०

१३ वही ५/२०/३५-३७

१४ वही ५/१/३२

१५ तत्त्वार्थसूत्र, ३/१८

१६ वही ३/९

१७ वही ३/१०

१८ वही ३/११

१९ वही ३/१२

२० वही ३/१३

२१ वही ३/१४

२२ वही ३/२०

२३ वही ३/२१-२२

२४ वही ३/२३

२५ वही ३/३२

२६ त्रिलोकसार

२७ वही

२८ जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, मथुरा, प्रस्तावना-पृष्ठ ८

२९ श्रीमद्भागवत ५/४/३

३० वही एवं अन्य अनेक पुराण

- के.के. जैन कालेज
खतौली-२५१२०१ (उ प्र)

व्यक्तित्व विकास के चौदह सोपान, चौदह गुणस्थान

– पं. आनंद कुमार शास्त्री 'आसु'

व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व विकास के लिए बहुत संघर्ष करना पडता है। प्रकृति ने मनुष्य को छोडकर, दूसरे प्राणियो को उसने जैसा चाहा उसे वैसा बना दिया। सिह को हिंसक, गाय को शाकाहारी, मगर इंसान को कुछ नहीं, इंसान को इंसान पर छोड दिया कि तुझे जो बनना है वैसा बन। तो आयें, हम अपने व्यक्तित्व को खोजें उसमें से एक ऐसी आशा निकालें जिससे सारा जगत् प्रकाशित हो जाये। क्योंकि व्यक्तित्व हमारी चांदनी है और उस व्यक्तित्व विकास के लिए व्यक्ति को निरन्तर कर्मयोगी बनना पडता है। हमारा व्यक्तित्व हमारे जीवन की बहुमूल्य सपत्ति है, जिसे हम ही कमा सकते है। यह किसी प्रतिनिधि के हाथो नही हो सकता। हमारा व्यक्तित्व ऐसा बन जाये कि अनायास प्रभावना हो हमें अपने व्यक्तित्व को इतना प्रभावक बनाना है कि हमारे बिना समाज स्वयं को रीता समझे। उस व्यक्तित्व को प्रभावक बनाने के लिए सत्य की सम्यग्दृष्टा अरहंत भगवान् ने ये चौदह गुणस्थान हमे दिये हैं।

मिथ्यात्व-सामान्यतया, दुनिया मे जड व्यक्तित्व अधिक होते हैं, वे इतने मूढ होते हैं, मूर्खता के गुलाम होते है कि वे गोबर के गणेश बने रह जाते हैं। गोबर यानि जडबुद्धि, महामूर्ख। ऐसे लोग अपने व्यक्तित्व के विकास के बारे में पहल नही करते। ससार की ज्यादातर आत्मायें ऐसी ही मूर्ख हैं। इसी गुणस्थान में है जो मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाता है।

सासादन-बहुत से व्यक्ति ऐसे होते है, जो अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने के लिए उसे एवरेस्ट की चोटी पर चढाने के लिए मेहनत कई बार करते हैं, पर उन्हे सफलता नही मिलती, यह रास्ता सचमुच काई भरा है, फिसलन भरा है।

सम्यक्त्व रूपी रत्नपर्वत के शिखर से गिरकर, जो जीव मिथ्यात्व रूपी भूमि के सन्मुख हो चुका है, अतएव जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है, परन्तु अभी तक मिथ्यात्त्व को प्राप्त नहीं हुआ उसे सासन या सासादन गुणस्थान कहते है।

सम्यग्मिथ्यात्त्व-व्यक्तित्व विकास के यात्री प्राय ढुलमुल यकीन वाले होते हैं, वे अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए कदम तो मंजिल की ओर बढाते है, पर उन्हें मजिल के प्रति शक रहता है इसलिए वे वापिस तीसरी सीढी से नीचे लौट जाते है।

इस गुणस्थान मे सत्य-असत्य दोनो का ही मिश्रण होता है इसमे जीव की स्थिति डांवाडोल रहती है। इसमे जीव सदेहशील रहता है जिस प्रकार दही और गुड को इस प्रकार मिलाने पर, जिससे उसको भिन्न नही किया जा सके, उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्र रूप होता है। उसी प्रकार मिश्र परिणामों मे भी एक ही काल मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते है।

अविरतसम्यक्त्व-जबकि अपने व्यक्तित्व को सही मायने मे व्यक्तित्व का रूप तभी दिया जा सकता है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को बनाने के लिए लगनशील होगा। उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए यह चौथा दर्जा दिया है। ऐसे व्यक्ति करते-धरते तो दिखाई नही देते। वे मूर्ति बनाने की आशाओं को संजोए रहते हैं, पर उसे बना नही पाते, वे मात्र अपने भीतर ही भीतर अतर व्यक्तित्व के पत्थर को ठोकते-पीटते रहते हैं।

जो इन्द्रियो के विषयो से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिसा से विरत नही हैं, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है, उसे अविरत सम्यक्दृष्टि कहा गया है अथवा जिसके अतरंग में निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में प्रीति है, परन्तु बाह्य विषयों से विरक्ति नहीं होने से जो व्रतों को धारण नहीं करता, उसे अविरत सम्यक्दृष्टि कहते हैं।

देशसंयत-मात्र लग्नशील होने से भी कुछ नहीं होगा, उसे कर्त्तव्यशील भी बनना पडेगा। व्यक्तित्व विकास की पांचवीं सीढी पर पांव रखते ही व्यक्ति कर्मयोगी बन जाता है। कर्त्तव्यशील और कर्मयोगी हो जाने से उसे पूर्व की कक्षायें कीचड सनी लगती है। वह जान जाता है कि जब मैं पूर्व कक्षाओं मे था, तो खारा जल पीता था। अब मुझे मीठा जल मिल रहा है तो खारे जल का सेवन करना बेवकूफी नहीं, तो क्या है? व्यक्तित्व की इस पाचवी कक्षा मे पढने वाला स्वयं को तो सस्कृत बनाने मे लगा ही रहता है। दूसरो को आगे बढाने और सच्चाई को कायम करने मे भी वह अपनी शक्तियों को समायोजित कर लेता है। उसके कदम उडान भरने लगते है, महकते बदरी वन की ओर।

जो जीव जिनेन्द्र देव मे अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस जीवो की हिसा से विरत और उसी ही समय मे स्थावर जीवो की हिसा से अविरत होता है तथा बिना प्रयोजन स्थावर का भी वध नही करता है, उस जीव को विरताविरत कहते है अर्थात् उसे सयमासंयमी वा देशसंयत कहा जाता है। अर्थात् कुछ अशो में संयत हो और कुछ मे असयत हो।

प्रमत्तविरत-आगे उसकी यात्रा तो होती है, पर यात्रा करते-करते परिश्रान्त भी तो हो जाता है। मजिले अपनी जगह होती हैं, रास्ते अपनी जगह रहते है, अगर कदम ही साथ न देंगे तो मुसाफिर बेचारा क्या करेगा, इसलिए विश्राम के लिए इस छट्ठे मील के पत्थर के पास एक विश्रामगृह है, आरामगृह है। यहाँ रुककर आदमी थोडा दम भरता है,

चैन की सांस लेता है, पर यहाँ रहकर आदमी पूरी तरह रुकता नहीं है, वह आगे की यात्रा के लिए सामग्री सजोता-समेटता है। विश्रामगृह तो मात्र रात बिताने के आरामगाह हैं।

इस गुणस्थान में आने वाला जीव सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषायों का उपशम होने से सकल संयमी तो होता है, किन्तु उसमें उस सयम के साथ-साथ सज्वलन कषायो और नोकषायों का उदय रहने से सयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं।

अप्रमत्तसंयत-सातवीं कक्षा यानी सूर्योदय। प्रभातकालीन सात बजे के टंकारे। अब व्यक्ति स्वयं को पुन तन्दुरुस्त समझता है। अप्रमत्त वेग से उसके कदम आगे से आगे बढते हैं। वह भारण्ड पक्षी की तरह जागरूक रहता है। अपने व्यक्तित्व को प्रगति के पथ पर आगे से आगे बढाने के लिए उसके कार्य बेमिशाल हो जाते है, उसका कर्त्तव्य कमाल का बन जाता है। इस दर्जे मे पहुंचने वाले लोगो का दर्जा काफी ऊंचा होता है। वे फिर सही अर्थो मे वी आई पी हो जाते हैं। उन्हें खास शब्दों में 'वेरी इम्पोर्टेन्ट पर्सन' कह सकते हैं। इस दशा में व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उसकी रग-रग में उज्ज्वलता की किरणें फूटने लगती है जैसे सूर्य की किरणों से फूल खिल जाते हैं, वैसे ही उसके सम्पर्क से दुनिया की मुरझायी कलियॉ किलकारियॉ मारने लगती हैं। उसके पास बैठने मात्र से ही व्यक्ति के मन की वीणा संगीत झंकृत करने के लिए मचलने लगती है। यह सोपान वास्तव मे व्यक्तित्व के परिवेश में एक विशेष क्रांति है।

सभी गुणस्थानों में अप्रमत्त गुण सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि यही वो गुणस्थान है, जो साधन के उत्थान और पतन का निर्णय करता है। ये गुणस्थान आरोहण तो ठीक वैसे ही है, जैसे राजपथ में हितोपदेश में लिखा रहता है कि 'सावधानी हटी दुर्घटना घटी' जिसका संयम प्रमाद

सहित नहीं होता है, उन्हें अप्रमत्त संयत कहते है। जब सज्ज्वलन और नो-कषाय का मद उदय होता है, तब सकल सयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। अत. इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। आत्मार्थी-साधक की पवित्र भावना के बल पर कभी-कभी ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि अंत:करण मे उठने वाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। वह आत्मचिन्तन में सावधान रहता है। इस स्थिति को अप्रमत्त गुणस्थान कहा जाता है।

अपूर्वकरण-अब तक हमने सात सोपानो के संगमरी सौन्दर्य का रसास्वादन किया। अब हम चढेंगे स्वर्णिम हिमाच्छादित बुद्धत्व की ओर। व्यक्तित्व के चरम लक्ष्य की ओर। अब तक की यात्रा से व्यक्तित्व की आभा आठवें दर्जे से गुजरने से ही मुखरित होती है। व्यक्ति को यहा आतरिक शक्ति का पता लगने लगता है। उसका चेहरा मुरझाया हुआ नहीं रहता, उसके चेहरे पर हमेशा राम सी मुस्कान रहती है कोई उन्हें तकलीफ भी दे दे, पेड पर औंधे मुंह भी लटका दे, तो भी उन पर असर नहीं होता। उनका व्यक्तित्व आत्मदर्शी बन जाता है।

अपूर्वकरण-प्रविष्ट सयतो मे सामान्य से उपशमक और क्षपक ये दो प्रकार के जीव है। 'करण' शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पूर्व अर्थात् पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते है। अध प्रवृत्तकरण के अतमुहूर्त्तकाल को व्यतीत करके सातिशय अप्रमत्त साधक जब प्रतिसमय विशुद्ध होता हुआ, अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है, तब वह अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहलाता है। इसको अपूर्वकरण गुणस्थान इसलिए कहा गया है कि किसी आत्मोत्थानकारी आत्मा के काल में ऐसी अपूर्व अवस्था अपूर्व आत्मबल एव आत्म-विशुद्धि प्रगट होती है जैसे पहले कभी नहीं हुई। आठवे गुणस्थान मे प्रवेश करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं-उपशम और क्षपक। जो विकासगामी आत्मा मोह के सस्कारों को दबा करके आगे बढता है और अत मे सर्व मोहनीय कर्म प्रकृति का उपशमन कर देता है वह उपशमक है। इसके विपरीत जो मोहनीय कर्म के संस्कारो

को जडमूल से उखाडने आते है, वे क्षपक कहलाते हैं। जो मोहनीय कर्म के सस्कारो का उपशमन करते हुए आगे बढते है, वे नियम से नीचे गिर जाते हैं और जो मोहनीय कर्म के संस्कारों को निर्मूल करते हुए ऊपर की भूमिकाओं में अग्रसर होते हैं, वे सर्वोपरि भूमिका तक पहुच जाते है।

अनिवृत्तिकरण-आत्मदर्शी जब समदर्शी बन जायें तो उसके व्यक्तित्व में चार चांद लग जाते हैं, नौंवे मच में अहं सघर्ष नही रहता। वे बाहुबली की तरह मन मे रहने वाली अहंकार की बेडियो को पहचान लेते हैं। व्यक्ति समदर्शी का व्यक्तित्व तभी पा सकता है, जब आदमी अहकार के मदमाते हाथी से नीचे उतरेगा। अह के हाथो पर चढे-चढे क्या व्यक्तित्व मे पूर्णता आ सकती है?

बाहुबली ने सयम लिया, घोर तपस्या में लीन हो गये। पर घोर तपस्या करने मात्र से व्यक्तित्व पर आने वाली झुझलाहट समाप्त नही हो जाती। व्यक्तित्व पूर्णता के लिए तभी सफल बन पाता है, जब वह व्यक्तित्व विकास की इस नवमी कक्षा मे मनन करता है। समदर्शी बनकर व्यक्तित्व को निखारता है। बाहुबली का व्यक्तित्व पूर्णता कैसे पाता, मन में अहम् और कुठा की ग्रन्थिया जो अटकीं थीं। बाहुबली की बहनें ब्राह्मी और सुन्दरी उनके पास जाती है। वे बोली भाई हाथी से नीचे उतरो, अपने पैरो पर खडे होओ।

बाहुबली बहिनो की आवाज सुनकर चौक गये। सोचा अरे मैं और हाथी पर चढा हुआ। उनके व्यक्तित्व को गहरा धक्का लगा। उन्होने स्वय को अहकार के मदमाते हाथी पर बैठा पाया। जैसे ही समदर्शिता उभरी, थोडी देर मे उन्होने स्वय के व्यक्तित्व को संपूर्ण पाया।

नौवे गुणस्थान में उत्पन्न हुए भावोत्कर्ष की निर्मलता अतितीव्र हो जाती है। इस गुणस्थान मे विचारों की चंचलता नष्ट होकर उनकी सर्वत्रगामिनी वृत्ति केन्द्रित और समरूप हो जाती है। इस अवस्था मे साधक की सूक्ष्मतर और अव्यक्त काम सबंधी वासना जिसे वेद कहते हैं,

समूल नष्ट हो जाती है। क्षपक श्रेणी पर आरुढ होने वाले इस गुणस्थानवर्ती जीव के इस गुणस्थान का सख्यात भाग व्यतीत हो जाने पर छत्तीस प्रकृतियो की सत्ताव्युच्छित्ति होती है, वह असख्यात गुण श्रेणी निर्जरा गुण संक्रमण स्थिति खण्डन और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग खण्डन तथा शुभ प्रकृतियों की अनुभाग वृद्धि करता हुआ सूक्ष्म सांपराय नामक दसवे गुणस्थान में प्रवेश करता है। उपशम श्रेणी पर आरोहण होने वाला अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान मे २० प्रकृतियों का उपशम करके दशवें में चला जाता है।

सूक्ष्मसांपराय-दसवे घर का जो लोग दरवाजा खटखटाते है, उसमे प्रवेश कर लेते हैं, ससार उस ओर उमडता है। इस गृहस्वामी के दर्शनमात्र से लोगो की खुशी होती है। सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसापराय कहते हैं। जो साधक आत्मशुद्धि की अपेक्षा इस अवस्था मे प्रवेश कर जाते हैं, उन्हे सूक्ष्म सापराय प्रविष्ट-शुद्धि-संयत कहते है। जिस प्रकार धुले हुए कौसुंभी रेशमी वस्त्र में सूक्ष्म हल्की लालिमा शेष रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग अर्थात् लोभ कषाय से युक्त होता है उसको सूक्ष्मसापराय नामक दशम गुण स्थानवर्ती कहते है।

उपशांत कषाय-ग्यारहवीं सीढी बहुत खतरनाक है, ऐसा समझिये इस सीढी पर केले के छिलके पड़े है, पैर रखा कि फिसला। यह काम करती है दमित क्रोध, मान, माया, लोभ की चाडाल चौकडी, यह दबी हुई माया हमारे मुह पर थप्पड लगाती है। इसलिए व्यक्तित्व विकास की पगडडी पर चलने वाले व्यक्ति को ग्यारहवी सीढी पर पैर नहीं रखना चाहिए। इसे फादकर आगे बढना है, पर फाद भी वही सकता है, जिसने चांडाल चौकडी को कभी पास नहीं फटकने दिया। जिसकी कषाये उपशांत हो गयी हैं, उन्हें उपशांत कषाय कहते है। निर्मली जल से युक्त जैल की तरह अथवा शरद् ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीय कर्म के पूर्ण उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल

परिणामों ये युक्त आत्मदशा को उपशात कषाय नामक ग्यारहवॉ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में आरोहण करने वाला साधक मोहनीय कर्म की सभी २८ प्रकृतियों का पूर्ण उपशम करके अंतमुहूर्त्त काल पर्यत इस स्थिति में रहकर इस अवधि के उपरांत पुन. उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों के वेग और बलपूर्वक उदय में आने से निश्चित रूप से नीचे के गुणस्थानों में गिर जाता है। उसका गिरना दो प्रकार से होता है-कालक्षय और भवक्षय। जो कालक्षय से गिरता है वह १०-९-८ और सातवे गुणस्थान मे क्रम से आता है और जो भवक्षंय से गिरता है वह सीधा चौथे में आता है या प्रथम गुणस्थान में भी जा सकता है।

क्षीणकषाय-बारहवें स्थान में उसी का आसन लग सकता है, जिसने स्वार्थ की रत्ती-२ भस्मीभूत कर डाली। उसका व्यक्तित्व फिर खुद के लिए ही नही, अपितु दुनिया के लिए वरदायी बन जाता है। यहॉ व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, वह महापुरुष बन जाता है। अतर व्यक्तित्व में छिपी ईश्वरीय शक्तियॉ जग जाती हैं। यदि व्यक्ति मे "मै" रहेगा तब तक ईश्वर हममें सोया रहता है। जब मैं-मैं छूट जायेगी तो भीतर का ईश्वर जाग जायेगा। यानी व्यक्तित्व विकास की पूर्णता की देहरी पर कदम रख देगा। यह स्थान हमारे व्यक्तित्व की परिपक्व अवस्था है। यहॉ खतरा नहीं है, अंतर तृप्ति है, आनन्द का सागर हिलोरे लेने लगता है। ससार पर करुणा की अमृतधारा उससे बरसने लगती है।

जिसकी कषाय सर्वथा समूल क्षीण हो गई है, उन्हे क्षीण कषाय कहते हैं। जो क्षीण कषाय होते हुए वीतराग होते है, उन्हें क्षीण कषाय वीतराग कहते हैं। जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण कषाय नाम का बारहवां गुणस्थानवर्ती साधक कहा है। जब कोई जीव दसवें गुणस्थान मे अवशिष्ट सूक्ष्म लोभ कषाय

का पूर्ण क्षय कर देता है और पूर्ण वीतरागता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाता है, तब इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

सयोगकेवली-व्यक्तित्व की तेरहवें मच पर पहुँचने वाले भाग्यशाली हैं। यह व्यक्तित्व की सर्वोच्चता है, जीवन्मुक्तता है, प्रकाश के आवरणो का छिन्न-भिन्न होना है। इससे ऊचा व्यक्तित्व मानव द्वारा संभव नहीं है। वे जो कुछ भी कहते हैं, वह विश्व पर कृपा है। उसकी बातें सच्ची होती है, पर पैनापन अपूर्व होता है। जैसे ही जब भी वह व्यक्ति कहीं से गुजरेगा तो सारा समां ही बदल जायेगा। उसके व्यक्तित्व के गुलाबी फूलो से सारा वातावरण सुरभित हो जाता है।

जीवन मे कुछ कर्ज ऐसे होते है जिसका नाता शरीर के साथ होता है। जब कर्ज चुक जाते है तो वह पदार्थ और परमाणु के हर दबाव से मुक्त हो जाती है। यह कैवल्य दशा है पतजलि ने इसे ही निर्बीज-समाधि कहा है। एक जीवन्मुक्ति है और एक विदेह मुक्ति। भगवान् महावीर के अनुसार सम्बुद्ध पुरुष का कैवल्य दशा मे प्रवास करना सयोग केवली अवस्था है। जिस अवस्था मे स्व-पर पदार्थो के ज्ञान और दर्शन के लिए इन्द्रिय आलोक और मन की अपेक्षा नही होती है, उसे 'केवल' अथवा असहाय ज्ञान कहते है। वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिसके होता है-उन्हे केवली कहते हैं। मन-वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते है, जो योग की साथ रहते है उन्हें सयोग कहते है। इस तरह जो सयोग होते हुए भी, केवली है उन्हे सयोग केवली कहते है।

जिसके केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से अज्ञान अधकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिनको नव केवल लब्धियों के प्रगट होने से परमात्मा-यह व्यपदेश प्राप्त हो गया है, उस जीव को इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान दर्शन से युक्त होने के कारण केवली ओर काय, वाक्, मन के योग से युक्त रहने के कारण सयोग तथा घातिया कर्मो की पूर्णत: जीत लेने के कारण 'जिन'

कहा जाता है, उस सयोग केवली अरिहन्त को तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा कहते है।

अयोगकेवली-चौदहवीं सीढ़ी मजिल को छुई हुई है, यात्री की यात्रा पूरी हो जाती है, उसे गंतव्य मिल जाता है, उसका व्यक्तित्व सिद्ध बन जाता है। विश्व उसकी चरण-धूलि को पाकर स्वयं को कृतार्थ समझता है। समर्पित हो जाते है, उनके चरणो पर अनगिनत श्रद्धा-पुरुष। आत्म तत्त्व पुरुष के शरीर को भी केचुली की तरह छोड़ देना उसकी अयोग केवली अवस्था है। जैन लोग जिसे 'णमो सिद्धाणं' कहते है, इसी समय साकार होती है, वह वन्दनीय सिद्धावस्था।

जिसमे योग विद्यमान नही है, उसे अयोग कहते है जिसने केवलज्ञान पाया है, उसे केवली कहते हैं जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोग केवली कहते है। जिस योगी के कर्मो के आने के द्वार रूप आस्रव सर्वथा अवरुद्ध हो गये है तथा जो सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूपी रज के सर्वथा निर्जरा हो जाने से कर्मो से सर्वथा मुक्त होने के सन्मुख आ गया है, उस योगरहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं, उस गुणस्थान मे काय और वाक् व्यापार निरुद्ध होने की साथ ही साथ मनोयोग भी पूरी तरह नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने मूल शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। संसार दशा का अंत हो जाता है, शेष चारो अघातिया कर्म ८५ प्रकृतियों की सत्त्व व्युच्छित्ति भी इस गुणस्थान के अतिम क्षणो मे हो जाती है और सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

इस तरह जो व्यक्ति जन्म-जन्म से विषपायी होता है, वही अमृतपायी बन जाता है, ऐसे व्यक्तित्व ही बनते है-तीर्थकर, बुद्ध अवतार, ईश्वर। काश! हमारा व्यक्तित्व भी ज्योतिर्मान होकर इतना योग्य बन जाये। इत्यलम्

द्वारा-पं. **कमलकुमार जैन**
दिगम्बर जैन विद्यालय
कॉटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७

निश्चय-व्यवहार

– शिवचरनलाल जैन

आत्म स्वरूप को सुखमय बनाने के लिए उसके परिज्ञान की महती आवश्यकता है। ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। ज्ञान की समीचीनता का नाम ही प्रमाण है। कहा भी है 'सम्यग्ज्ञान प्रमाणं'। प्रमाण के अंशो को नय कहते हैं। ('प्रमाणांशा नया उक्ता ')। सारांश में कह सकते हैं कि ज्ञान की समीचीनता, चाहे वह समग्र रूप में हो अथवा आंशिक रूप मे, आत्मस्वरूप को समझने का उपाय है। "नयतीति नय." अर्थात् जो किसी एक लक्ष्य पर पहुँचता है, ले जाता है, वह नय है। यदि लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है तो नयों की आवश्यकता है। नयो के दो काम इस प्रकार ज्ञात होते हैं-एक तो ज्ञान मे सहायक होना, दूसरा अग्रसर कराना। अन्य शब्दो में क्रिया या गतिशीलता के सम्मुख ज्ञान के साधनों को नय कहा जा सकता है।

अनेकान्त जैन-दर्शन का प्राण है। वस्तु अनन्त धर्म वाली है। उन धर्मो को विभिन्न दृष्टियों से ही जाना जा सकता है, इन्हीं दृष्टियो को नय कहते है। पदार्थ की यथात्मकता के सफल अववोधक होने से सभी नय सार्थक हैं। आगम और अध्यात्म इन दो रूपो में श्रुतज्ञान को विभक्त किया जाता है, अलग-अलग दो श्रुतज्ञान निरपेक्ष नही हैं। दोनो का हर काल में सहयोगी निरूपण है। इसीलिए आगमिक नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा आध्यात्मिक नय निश्चय और व्यवहार ३६ में अंक ३ और ६ के समान विपरीत दिशोन्मुख न होकर ६३ में परस्पर सहयोगाकांक्षी के रूप में अवस्थित है। किसी अपेक्षा से आगम

मे वर्णित द्रव्यार्थिक नय को निश्चयनय और पर्यायार्थिक नय को व्यवहारनय कह सकते है। आचार्यो ने अध्यात्म मे स्थान-स्थान पर निश्चय और व्यवहार इन दो नयों का नाम लेकर प्रयोग किया है। अपेक्षा को स्पष्ट करना उनकी दृष्टि में सर्वत्र उपयोगी रहा है ताकि पाठक को भ्रम अथवा छल न हो।

परिभाषायें :

निश्चयनय-

(१) **''निश्चिनोति निश्चीयते अनेन वा इति निश्चय:''**। जो तत्त्व का परिचय कराता है अथवा जिससे अर्थावधारण किया जाता है या निश्चित किया जाता है, वह निश्चय है।

(२) **''निश्चयनय एवम्भूत:''-निश्चयनय एवम्भूत है।** (श्लोकवार्तिक १-७)

(३) **''परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चय:''**। परमार्थ के विशेषण से सशयादि की रहितता होने से निश्चय है। (प्रवचनसार ता वृ ९३)

(४) **''अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय:''**। जो अभेद और अनुपचार से वस्तु का निश्चय कराता है, वह निश्चय है। (आलापपद्धति-९)

(५) **जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।**
अविसेसमसंजुत्तं ते सुद्धणयं वियाणीहि।'' (समयप्राभृत)

- जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष (सामान्य) और असंयुक्त देखता है वह शुद्धनय (शुद्ध निश्चयनय) जानना चाहिए।

(६) **"आत्माश्रितो निश्चयोनय:"**। आत्मा ही जिसका आश्रय है, वह निश्चयनय है। (समयसार, आत्माख्याति-२७२)

(७) **"अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नय:"**। कर्ता, कर्म आदि को अभिन्न विषय करने वाला निश्चयनय है। (तत्त्वानुशासन/५९, अनगार धर्मामृत/१/१०२)

व्यवहारनय-

(१) **"पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारो"**। वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहारनय है। (धवला १/१)

(२) **"संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार:"**। सग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थो का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार है। (सर्वार्थसिद्धि १/३३)

(३) **"भेदोपचाराभ्यां व्यवहरतीति व्यवहार:"**। जो भेद और उपचार से व्यवहार करता है, वह व्यवहार है।

(४) **"जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स। सो ववहारो भणियो.."**। एक अभेद वस्तु मे जो धर्मो का अर्थात् गुण पर्यायों का भेद रूप उपचार करता है वह व्यवहार नय कहा जाता है।

(५) **"पराश्रितो व्यवहार:"**। पर पदार्थ के आश्रित कथन करना व्यवहार है। (समयप्राभृत आत्मख्याति-२७२)

(६) **"व्यवहरणं व्यवहार: स्यादिति शब्दार्थो न परमार्थ:"। स यथा गुणगुणिनो सद्भेदे भेदकरणं स्यात्"**। विधिपूर्वक भेद

करने का नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँ पर गुण और गुणी मे सत् रूप से अभेद होने पर भी जो भेद करता है, वह व्यवहार नय है। (पंचाध्यायी/पू०/५२२)

(७) "**व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः**"। व्यवहार नय भिन्न कर्ता-कर्मादि विषयक है।

(८) "जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो"। (छहढाला)

उपरोक्त परिभाषाये निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को समझने में उपयोगी हैं। इन नयों की परिभाषायें अध्यात्म में बहुत मिलती है। सब सापेक्ष हैं। यहाँ दोनों नयों का पृथक्-पृथक् एव समन्वित वर्णन किया जाता है।

निश्चयनय - जिससे मूल पदार्थ का निश्चय किया जाता है, वह निश्चयनय है। यह नय वस्तु के मूल तत्त्व को देखता है। यद्यपि पर पदार्थो की संगति भी वास्तविक है तथापि यह उसको दृष्टिगत नहीं करता है। जैसे आत्मा और पुद्गल संसार में मिले हुए द्रव्य है। ऐसी स्थिति मे भी शरीरादि पर-द्रव्यों को पृथक् ही मानते हुए केवल आत्म-द्रव्य को ही ग्रहण करता है। पर्यायों पर भी दृष्टि नही डालता है। आगम भाषा का द्रव्यार्थिक नय अपेक्षा दृष्टि से निश्चय नय माना जा सकता है, किन्तु पूर्णतया दोनों का स्वरूप एक नहीं है क्योंकि वहाँ व्यवहार को भी द्रव्यार्थिक माना गया है।

"**स्वाश्रितो निश्चय**" - इस लक्षण के अनुसार इस नय का प्रयोजन स्वद्रव्य है। निश्चयनय दो प्रकार का है। १ शुद्ध निश्चयनय, २ अशुद्ध निश्चयनय। शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह शुद्ध निश्चयनय है। इसे आगम भाषा में वर्णित परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिक

नय कह सकते हैं। अशुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्ध निश्चयनय कहलाता है। आगम भाषा में उसे कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कह सकते हैं।

बृहद् द्रव्यसंग्रह मे उपरोक्त दो नयों का प्रयोग देखिये .

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्ध भावाणं।।८।।

यहाँ अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा को चेतन परिणाम (भावकर्म रागद्वेषादि) का कर्त्ता बताया है तथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता बताया है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से अशुद्ध निश्चयनय का उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि शुद्धनय से अन्य निश्चयनय निरूपित किया गया है, वह शुद्ध निश्चयनय ही है।

समयसार कलश में शुद्ध नय का लक्षण देखिये .

आत्मस्वभावं परभावभिन्नं आपूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।।१०।।

आत्म-स्वभाव को परभावों से भिन्न, आपूर्ण, आदि-अन्त रहित, एकरूप तथा संकल्प-विकल्प जाल से रहित प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय (शुद्ध निश्चय) उदय को प्राप्त होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने निश्चय नय से अपने भावरूप परिणमन करने वाले को कर्त्ता कहा है -

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।

जीव रागद्वेष भाव का भी कर्त्ता है तथा शुद्धभाव (वीतराग भाव) का भी। दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता एक नय से नहीं हो सकता।

दो नय चाहिए। वे दोनों ही निश्चयनय हैं। दोनों के विषय विरुद्ध हैं। अत वे शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ही हो सकते हैं।

चूँकि जीव का परिणमन शुद्ध रूप से एवं अशुद्ध रूप से, दोनों से होता है, अत. आचार्य श्री की दृष्टि मे दोनों को निश्चय रूप से मान्यता प्राप्त है। परमार्थ की दृष्टि से अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है।

व्यवहारनय - ऊपर कह आये हैं कि जो भेद और उपचार से व्यवहार करता है, वह व्यवहारनय है। इसका विषय अनुपचार भी है, जैसा कि इसके भेद-प्रभेदो से प्रकट है। गुण और गुणी में भेद करना इसका कार्य है तथा भेद मे भी अभेद की सिद्धि करना भी (उपचार) इसका कार्य है। जैसे जीव और पुद्गल में भेद है किन्तु यह उनको एक कहता है, जैसे-

''**ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।**
(समयसार-२७)

व्यवहार नय देह और जीव को एक कहता है।

'पराश्रितो व्यवहार:' - इस वचन के अनुसार यह नय पर के आश्रय से प्रवृत्ति करता है। परद्रव्यो द्रव्यकर्म, शरीर-परिग्रहादि नोकर्म को तथा उनके सम्बन्ध से होने वाले कार्यो को जीव का मानता है। जीव कर्म करता है, जन्म मरण करता है, संसारी है, पौद्गलिक कर्मो का भोक्ता है, बद्ध और स्पृष्ट है, आदि का वर्णन करता है। इस नय को आगम भाषापेक्षया पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह द्रव्य को नहीं देखता, पर्याय को ही विषय करता है। इस नय को भी दो भेदों मे विभक्त किया जा सकता है। १ स्वभाव व्यंजन पर्यायार्थिक नय २ विभाव व्यजन पर्यायार्थिक नय।

अन्य दृष्टि से व्यवहार के निम्न ४ भेद है।

१ अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय-जैसे जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं।

२ उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय-जैसे जीव के मतिज्ञान आदि विभाव गुण हैं।

३ अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय-संश्लेष सहित शरीरादि पदार्थ जीव के हैं।

४ उपचरित असद्भूत व्यवहारनय-जिनका संश्लेष सम्बन्ध नहीं है, ऐसे पुत्र, मित्र, गृहादि जीव के हैं।

उपर्युक्त प्रकार से दोनो नयों का सक्षेप से स्वरूप वर्णन मिलता है।

जीवादिक पदार्थो के परिज्ञान के लिए प्रमाण और नयों की उपयोगिता है। जिस प्रकार हम किसी वस्तु को हर पहलू से घुमा-फिराकर देखते हैं उसी प्रकार विभिन्न नयों या दृष्टिकोणों से समन्वित रूप से हमें जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना आवश्यक है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अत किसी एक ही नय द्वारा उसका सर्वांगीण ज्ञान अशक्य है। हॉ, **अर्पितानर्पितसिद्धेः**, इस वचन के अनुसार किसी नय को किसी समय में मुख्य और किसी को गौण करना पडता है। नयों को चक्षु की उपमा दी गई है।

नय योजना - कौन सा नय किस अवस्था में प्रयोजनीय है, इसे दृष्टि मे रखकर आ कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं -

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

जो शुद्ध नय तक पहुँचकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रवान् हो गये हैं अर्थात् परमभावदर्शी है, उनको तो शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव मे (गृहस्थ की अपेक्षा पाचवें गुण स्थान तक तथा मुनि की अपेक्षा छठवें व सातवे गुणस्थान मे) स्थित हैं, उनके लिए व्यवहार का उपदेश किया गया है।

व्यवहार नय को समयसार जैसे शुद्ध अध्यात्म एवं विशुद्ध ध्यान विषयक ग्रन्थों में अभूतार्थ भी कहा गया है, जिसका अर्थ असत्यार्थ भी किया गया है। इसका मतलब यह ही है कि जब योगी शुद्धोपयोग की अवस्था में पहुँचता है, उसकी अपेक्षा यह अप्रयोजनभूत है। इसका आशय यह नहीं है कि यह सर्वथा असत्यार्थ है। अपने विषय की अपेक्षा अथवा प्रमाण की दृष्टि मे वह भी उतना ही भूतार्थ है, जितना कि निश्चय। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने आत्मख्याति में बतलाया है कि जब कमल को जल-सम्पृक्त अवस्था की दृष्टि से देखते हैं तो कमल जल मे है, यह व्यवहार कथन भूतार्थ है। जब जल की तरफ दृष्टि न करके मात्र कमल को देखते है तो कमल जल से भिन्न है, यह निश्चय कथन भूतार्थ है। वास्तविकता यह है कि कोई नय न तो सर्वथा भूतार्थ है और न अभूतार्थ। प्रयोजनवश ही किसी नय की सत्यार्थता होती है। प्रयोजन निकल जाने पर वही अभूतार्थ, असत्यार्थ कहलाता है। यदि व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ होता तो उसे अनेकान्त सम्यक् प्रमाण के भेदो मे स्थान कैसे मिलता?

नय चाहे व्यवहार हो या निश्चय, सभी नयवादों को पर-समय कहा गया है। देखिये :

"जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंतिं णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।

ऊपर परमार्थ परमाव की चर्चा की है। परमभाव मे स्थित मुनि है। इस विषय मे स्थान-स्थान पर आचार्यो ने स्पष्टीकरण भी किया है, देखिए .

''मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि।। (समयप्राभृत)
''णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं''।

निश्चय नय-परक अध्यात्म ग्रन्थो की रचना आ कुन्दकुन्द आदि महर्षियों ने श्रमणों को लक्ष्य में रखकर की है। यथास्थान ''मुने'' आदि सम्बोधन पदों का प्रयोग भी किया है। इस शैली के पात्र वस्तुत ससार, शरीर और भोगों से अन्त.करण से एव बाह्य रूप से विरक्त साधु ही है। इसका अर्थ यह नही लेना चाहिए कि इन ग्रंथो को गृहस्थ को पढना ही नहीं चाहिए, अपितु ये ग्रन्थ ऊपर बताये गये भाव को अर्थात् मुनिपरक उपदेशता को ध्यान मे रखकर ही अध्ययनीय है। इस सावधानी से अध्यात्म का हार्द समझने मे चूक न होगी।

व्यवहारनय बाहरी फोटो के समान पदार्थ का चित्रण करता है, निश्चयनय एक्सरे के फोटो के समान अन्तरग एव निर्लिप्त चित्रण करता है। आ कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार अनार्य भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना अशक्य है, उसी प्रकार बिना व्यवहार के निश्चय का उपदेश अशक्य है। जिस प्रकार अक्षर के भेद-प्रभेद रूप विन्यास के बिना बालक को सर्वप्रथम अक्षरज्ञान नही हो सकता, अपितु उसे 'अ' के पेट, चूलिका, दण्ड, रेखा {◡) । -} अलग अलग बताने पडते है तथा उन अवयवों से ही 'अ' बनता है, उसी प्रकार व्यवहार नय प्राथमिक जीवो को उपयोगी है एव व्यवहार भेदों के एकत्रीकरण से ही निश्चय का स्वरूप बनता है।

व्यवहार निश्चय का साधन है - निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी तत्त्वार्थसार मे कहा है -

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित:।
तत्राद्य: साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधन:।।

एक ही मोक्षमार्ग दो प्रकार हैं १ निश्चय २ व्यवहार। निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। बिना व्यवहार के निश्चय की सिद्धि त्रिकाल में सम्भव नहीं है। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र मे माइल्लधवल कहते हैं -

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तम्हा य भणिय सो ववहारो।।

आ अमृतचन्द्र जी ने पंचास्तिकाय की टीका में (गाथा नं १६७ से १७२ तक) इस साध्य-साधन भाव को दृढता से प्रतिपादित किया है, तीनों रत्नो को (व्यवहार व निश्चय) दोनो रूपो मे मान्यता दी है। व्यवहार को निश्चय का बीज लिखा है। यानी व्यवहार ही निश्चय रूप में परिवर्तित हो जाता है। जो निश्चय और व्यवहार में किसी एक का भी पक्षपात करता है, वह देशना का फल प्राप्त नहीं करता। निष्पक्षता ही फल की उत्पादक है। कहा भी है -

व्यवहारनिश्चयौ य: प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ:।
प्राप्नोति देशनाया: स एव फलमविकलं शिष्य:।। (पुरुषार्थसिद्धि)

किसी नय की अवहेलना वस्तु-तत्त्व की अवहेलना है। नय तो जानने के लिए दो आखो के समान है। समय-समय पर प्रत्येक नय काम मे आता है। आ अमृतचन्द्र स्वामी ने गोपिका के उदाहरण से अनेकान्तमय जैनी-नीति को प्रस्तुत किया है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी।। (२२५ पु सि)

जैसे गोपिका मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी के दोनो छोरो को पकडे रहती है, गौण-मुख्य करती है, उसी प्रकार तत्त्व-जिज्ञासु रस्सी स्थानीय प्रमाण के दोनों अश व्यवहार-निश्चय, इनमें से किसी को छोडता नहीं है, यथासमय गौण-मुख्य करता है।

निश्चयाभास - जो शुद्ध अध्यात्म ग्रन्थों का पठन करके निश्चय नय के वास्तविक अर्थ को न जानता हुआ व्यवहार धर्म, शुभ प्रवृत्ति, शुभोपयोग रूप अणुव्रत-महाव्रत रूप सराग चारित्र को सर्वथा हेय मानता है, जिसने पाप क्रियाओं को अब तक छोडा नहीं है, जिसे गुणस्थान, मार्गणा-स्थान आदि विषयक करणानुयोग का ज्ञान नही है, जो शुभ को सर्वथा बन्ध का कारण मानता है तथा चारित्र एवं चारित्रधारी मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओ की उपेक्षा करता है, जीव को सर्वथा कर्म का अकर्ता मानता है, वह निश्चयाभासी है। उसका निश्चय आभासमात्र है, वह निश्चयैकान्ती है।

जीव को शुद्ध निश्चय नय से कर्म का अकर्ता कहा गया है एव शुभ भाव को भी हेय कहा गया है। उसी कथन को सम्पूर्ण सत्य मानकर वैसा ही निरूपण करता है। द्रव्य को सर्वथा शुद्ध मानता है परन्तु आप साक्षात् रागी हो रहा है। उस विकार को पर (अन्य) मानकर उससे बचने का उपाय नही करता। यद्यपि अशुद्ध है तथापि भ्रम से अपने को शुद्ध मानकर एक उसी शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है। द्रव्य से पर्याय को सर्वथा भिन्न मानकर, अस्पृष्ट मानकर सन्तुष्ट हो जाता है, जबकि द्रव्य से पर्याय तन्मय है। वह रागादिक विकार को पर्याय मात्र में मानता है, विकारों का आधार पर्याय ही मानता है। इस मान्यता का जीव दही-गुड खाकर प्रभावी हुए के समान आत्मस्वरूप से च्युत बहिरात्मा है।

निश्चयैकान्ती एक ज्ञान मात्र को ही वास्तविक मोक्षमार्ग मानता है तथा चारित्र तो स्वतः हो जायेगा, ऐसा जानकर चारित्र और तप हेतु

उत्साही नहीं होता। नियतिवाद, क्रमबद्धपर्यायित्त्व और कूटस्थता के एकान्त-स्वर से पीड़ित रहता है। समय प्राभृतादि अध्यात्म के उपदेश का अनर्थ कर, सम्यग्दृष्टि अबन्धक है एवं वह भोगों से निर्जरा को प्राप्त होता है, ऐसा श्रद्धान कर भोग व पाप से विरक्त नहीं होता। शुभोपयोग को किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग का साधक नहीं मानता। व्यवहार को निश्चय का साधक नहीं मानता। प्रथम ही निश्चय मोक्षमार्ग तथा बाद में, व्यवहार का सद्भाव मानता है। व्यवहार के कथन को अवास्तविक मानता है, कहता है कि यह कहा है, ऐसा है नहीं। विवक्षा को नहीं समझता। शुद्धोपयोग के गीत गाता हुआ, अशुभ परिणामों से नरकादि कुगति का पात्र होता है। इस प्रकार निश्चयाभासी स्वयं तो अपनी हानि करता ही है, साथ ही समाज को भी डुबो देता है।

व्यवहारैकान्त - जिसको निश्चय नय के द्वारा वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है, मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड को धारण करता है, देखादेखी और भाव के बिना अर्थात् बिना किसी निर्धारण के तप-संयम अंगीकार करता है, जिसको अपनी भाव-परिणति बिगडती रहने का भय नहीं है, अन्तरंग में कषाय को शान्त करने के लिए ज्ञान की उपयोगिता की उपेक्षा करता है, जो बिना मोक्षलक्ष्य के देवपूजा आदि षट्कर्म तथा बाह्य तपश्चरण को ही साक्षात् मोक्षमार्ग-रूप सर्वस्व समझकर अपने को धर्मात्मा मानता है, चारित्र की विशुद्धि में कारण दर्शन-ज्ञान की ओर जिसका लक्ष्य नहीं है, जिसके मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत सात तत्त्वों को जानने का विचार नहीं है, व्यवहार के द्वारा साध्य निश्चय आत्म स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं है, वह व्यवहाराभासी है। यद्यपि ऐसे मनुष्य से समाज को हानि नहीं है तथा पुण्य कार्यो से सम्पादन से लाभ भी है तथापि व्यवहाराभासी मोक्ष का पात्र नहीं है।

उभयाभास - जो व्यवहार और निश्चय दोनों को अलग-अलग मोक्षमार्ग मानता है वह उभयाभासी है। व्यवहार और निश्चय ये दोनों

प्रमाण के अंश हैं। इनका लक्ष्य एक ही पदार्थ होता है, किन्तु उभयाभासी दोनों को स्वतन्त्र रूप से मानकर दो मोक्षमार्ग मानता है। ऐसा उभयाभासी सच्ची प्रतीति से अनभिज्ञ है।

उपर्युक्त प्रकार नयों के दुरुपयोग देखने में आते हैं। समीचीन दृष्टि से देखने वाला व्यक्ति व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य मानता है। वह जानता है कि मोक्षमार्ग एक है, उसके दो पहलू हैं। कहा भी है-

एष ज्ञानधनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधनभावेन द्विधैकं समुपास्यताम्।। (समयसार कलश-१५३)

जो सिद्धि के इच्छुक हैं उन्हें साध्य-साधन भाव से दो रूपों को धारण करने वाले किन्तु वस्तु रूप से एक आत्मा की सम्यक् उपासना करना चाहिए। मुमुक्षु को न निश्चय का पक्ष है, न व्यवहार का। वह बाह्य धर्मसाधन करते हुए अन्तरंग भाव विशुद्धि पर ध्यान रखता है तथा क्रम को स्वीकार कर पहले पाप को छोडकर पुण्य का निष्ठावान् होकर आचरण करता है। पश्चात् जब शुद्धोपयोग में स्थित हो जाता है तो ऐसी परम मुनिदशा में पुण्य भी अपने आप छूट जाता है। पाप को प्रयत्न पूर्वक, नियम आदि करके छोडना पडता है किन्तु पुण्य के विषय में ऐसा नहीं है। पाप और पुण्य में कर्म सामान्य अपेक्षा समानता होने पर भी बडा अन्तर है। आ कुन्दकुन्द बारस-अणुवेक्खा में कहते हैं -

वर वय तवेहि संग्गो मा दुक्खं होइ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालं ताण गुरुभेदं।।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं -

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।। (८४)

यहाँ बताया है कि मोक्षार्थी को पाप को छोड़कर, व्रतों (पुण्य) को आदरपूर्वक निष्ठापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। परम पद मिलने पर व्रत भी अपने आप छूट जाते हैं। उस स्थिति में संकल्प-विकल्प का अभाव है अत: त्याग और ग्रहण के लिए भी अवकाश नहीं है। फिर निश्चय व्रत तो कभी नहीं छूटते।

उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार पूर्वक निश्चय को मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले निश्चय होता है, बाद में व्यवहार। सो निश्चय का अर्थ उद्देश्य या इरादे को ध्यान में रखकर ऐसा कथन करते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि ऐसा इरादा, प्रतीति तो व्यवहार ही है। निश्चय की प्राप्ति होने के बाद व्यवहार की क्या आवश्यकता है?

निश्चय व्यवहार के विषय में पं टोडरमल जी का यह छन्द उपयोगी दिशाबोधक है-

"कोऊ नय निश्चय सों आतमा को शुद्ध मानि,
भये हैं सुछंद न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार जप तप दान शील को ही,
आतम को हित जानि छांड़त न मुद्धता।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न पहचान करें निज उद्धता।
जब जानैं निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण है उपचार मानैं तब शुद्धता।।

- थोक वस्त्र विक्रेता
सीताराम बाजार, मैनपुरी (उ.प्र.)

एक जनोपयोगीकृति –

श्री सम्मेद शिखर मंगलपाठ

रचनाकार – सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)
प्राप्ति स्थान – श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट
वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

आधुनिक साज-सज्जा-युक्त उक्त कृति तीर्थराज सम्मेद शिखर के माहात्म्य को जन-जन तक पहुँचाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। वस्तुतः तीर्थक्षेत्र की वन्दना भावों की निर्मलता में निमित्त कारण है। यही कारण है कि हमारे परम्परित आचार्यों ने भी तीर्थक्षेत्र की भक्ति-वन्दना को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कविवर द्यानतराय, वृन्दावन आदि भक्तिरसिक कवियों ने जो पूजन-विधान रचे हैं, वे सभी भावों को निर्मल बनाने के लिए स्वान्तः सुखाय ही रचे हैं। यह बात अलग है कि उनकी रचनाओं के माध्यम से भक्तजन आज भी अपनी मानसिक वेदना का शमन करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार श्री सुभाष जी ने भी स्वान्तः सुखाय ही वन्दना, पूजन, आरती की रचना की होगी, परन्तु वह रचना सर्व-जनोपयोगी बन गई है। सम्मेद शिखर की लम्बी वन्दना करते हुए इनके उपयोग से भावों में निर्मलता का संचार होगा और विषय कषायों से कुछ समय के लिए ही सही, मुक्ति मिल सकेगी। श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट ने इसे प्रचारित कर सामयिक कदम उठाया है। अतः वह साधुवादार्ह है। प्रस्तुत कृति संग्रहणीय और मनन चिन्तन के लिए उपयोगी है। सामाजिक संस्थाओं में अनेक दायित्वों का निर्वाह करते हुए रचनाकार श्री सुभाष जैन बधाई के पात्र हैं जिन्होंने सर्वजनोपयोगी रचनाओं का सृजन किया। शिखर जी ट्रस्ट को पत्र लिखकर पुस्तकें निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

–डॉ. सुरेश चन्द्र जैन